कल्पलता

लेखक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस

प्रथमावृत्ति

२॥)

प्रकाशक
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
बनारस

मुद्रक
ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी ३७६५-०७

विषय-सूची

कल्पलता

'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?'

बच्चे कभी-कभी चक्करमें डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़कीने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमीके नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिनतक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अकसर उन्हें डाँटा करते हैं। पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिए, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे; पर निर्लज्ज अपराधीकी भाँति फिर छूटते ही सेंधपर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं?

कुछ लाख ही वर्षोंकी बात है, जब मनुष्य जङ्गली था; बनमानुष-जैसा। उसे नाखूनकी जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षाके लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असलमें वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखूनके बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रतिद्वंदियोंको पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंगसे बाहरकी वस्तुओंका सहारा लेने लगा। पत्थरके ढेले और पेड़की डालें काममें लाने लगा (रामचन्द्रजीकी वानरी सेनाके पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियोंके भी हथियार बनाये। इन हड्डीके हथियारोंमें सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओंके राजाका वज्र, जो दधीचि मुनिकी हड्डियोंसे बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातुके हथियार पाये। जिनके पास लोहेके शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओंके राजातकको मनुष्योंके राजासे इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्योंके राजाके पास लोहेके अस्त्र थे। असुरोंके पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहेके अस्त्र नहीं थे, शायद घोड़े भी नहीं थे।

आर्यों के पास ये दोनों चीजें थीं। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गतिसे बढ़ता गया। नाग हारे, सुवर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहेके अस्त्रोंने बाज़ी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते-वाली बन्दूकोंने, कारतूसोंने, तोपोंने, बमोंने, बम-वर्षक वायुयानोंने इति-हासको किस कीचड़-भरे घाटतक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बमपर भरोसा करके आगेकी ओर चल पड़ा है। पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्यको उसके भीतरवाले अस्त्रसे वञ्चित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखूनको भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहलेके नख-दन्तावलम्बी जीव हो—पशुके साथ एक ही सतहपर विचरनेवाले और चरनेवाले।

ततः किम्। मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों-को नाखून न काटनेके लिए डाँटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चोंको नाखून नष्ट करनेपर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखूनको जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज़ बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं, नहीं जानते कि मनुष्यको इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है! मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखूनको नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युगका कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटनेसे क्या होता है? मनुष्यकी बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती ही जा रही है! मनुष्यके इतिहासमें हिरोशिमाका हत्याकाण्ड बार-बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीनतम रूप है! मैं मनुष्यके नाखूनकी ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो आता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्तिके जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्यकी पशुताको जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्यने नाखूनको सुकुमार विनोदोंके लिये

उपयोगमें लाना शुरू किया था। वात्स्यायनके कामसूत्रसे पता चलता है कि आजसे दो हजार वर्ष पहलेका भारतवासी नाखूनोंको जमके सँवारता था। उनके काटनेकी कला काफ़ी मनोरञ्जक बतायी गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियोंके नाखून उन दिनों विलासी नागरिकोंके न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़देशके लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखोंको पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखोंको। अपनी-अपनी रुचि है, देशकी भी और कालकी भी ! लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियोंको और नीचे खींचनेवाली वस्तुओंको भारतवर्षने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकती।

मानव-शरीरको अध्ययन करनेवाले प्राणि-विज्ञानियोंका निश्चित मत है कि मानव-चित्तकी भाँति मानव-शरीरमें भी बहुत-सी अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं। दीर्घकालतक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीरने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीरके अनजानमें भी, अपने-आप काम करती हैं। नाखूनका बढ़ना उनमेंसे एक है, केशका बढ़ना दूसरा है, दाँतका दुबारा उठना तीसरा है, पलकोंका गिरना चौथा है। और असलमें सहजात वृत्तियाँ अनजानकी स्मृतियोंको ही कहते हैं। हमारी भाषामें भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीरकी, मनकी और वाक्की अनायास घटनेवाली वृत्तियोंके विषयमें विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचाननेमें बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है ? सोचता तो क्या उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेनेकी जो सहजात वृत्ति है,वह उसके पशुत्वका प्रमाण है। उन्हें काटनेकी जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यताकी निशानी है और यद्यपि पशुत्वके चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्वको छोड़ चुका है। पशु बनकर

वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढ़ानेकी प्रवृत्ति मनुष्यताकी विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर ? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है ? पशुताकी ओर या मनुष्यताकी ओर ? अस्त्र बढ़ानेकी ओर या अस्त्र काटनेकी ओर। मेरी निर्बोध बालिकाने मानो मनुष्य-जातिसे ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं ? यह हमारी पशुताके अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ—जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं ?—ये हमारी पशुताकी निशानी हैं। भारतीय भाषाओंमें प्रायः ही अंगरेजीके 'इण्डिपेण्डेन्स' शब्दका समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता। १५ अगस्तको जब अंगरेजी भाषाके पत्र 'इण्डिपेण्डेन्स'की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषाके पत्र 'स्वाधीनता-दिवस'की चर्चा कर रहे थे। 'इण्डिपेण्डेन्स'का अर्थ है अनधीनता या किसीकी अधीनताका अभाव,पर 'स्वाधीनता' शब्दका अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंगरेजीमें कहना हो, तो 'सेल्फ-डिपेण्डेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अँगरेजीकी अनुवर्तिता करनेके बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स'को अनधीनता क्यों नहीं कह सका ? उसने अपनी आजादीके जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य,स्वाधीनता—उन सबमें 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा। यह क्या संयोगकी बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजानमें, हमारी भाषाके द्वारा प्रकट होती रही है ? मुझे प्राणि-विज्ञानीकी बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियोंका ही नाम है। स्वराज होनेके बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देशको सच्चे अर्थमें सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देशके लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रोंमें इस समस्याको नाना भावों और नाना पहलुओंसे विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों-रात अनजान जंगलमें पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परम्परा

महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल हैं! हमारे अन-जानमें भी ये बातें हमें एक खास दिशामें सोचनेकी प्रेरणा देती हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। उपकरण नये हो गये हैं और उलझनोंकी मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूपमें न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूपमें सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारोंका फल है। वह 'स्व'के बन्धनको आसानीसे नहीं छोड़ सकता। अपने-आपपर अपने-आपकेद्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी संस्कृतिकी बड़ी भारी विशेषता है। मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो-कुछ हमारा पुराना है, जो-कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुरानेका 'मोह' सब समय वाञ्छनीय ही नहीं होता। मरे बच्चेको गोदमें दबाये रहनेवाली 'बँद-रिया' मनुष्यका आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्साके नशेमें चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदासने कहा था कि सब पुराने अच्छे ही नहीं होते, सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनोंकी जाँच कर लेते हैं; जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं, और मूढ़ लोग दूसरोंके इशारेपर भटकते रहते हैं। सो हमें परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसञ्चित भाण्डारमें वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

जातियाँ इस देशमें अनेक आयीं हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गयी हैं। सभ्यताकी नाना सीढ़ियोंपर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलनेवाली इन जातियोंके लिये एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्षके ऋषियोंने अनेक प्रकारसे अनेक ओरसे इस समस्याको सुलझानेकी कोशिश की थी। पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियोंका एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बन्धनोंसे अपनेको बाँधना। मनुष्य पशुसे

किस बातमें भिन्न है ? आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियोंके। लेकिन वह फिर भी पशुसे भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरेके सुख-दुःखके प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्यके स्वयंके उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिये मनुष्य झगड़े-टंटेको अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्सेमें आकर चढ़ दौड़नेवाले अविवेकीको बुरा समझता है और वचन, मन और शरीरसे किये गये असत्याचरणको गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदायका धर्म नहीं है। यह मनुष्य-मात्रका धर्म है। महाभारतमें इसीलिये निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोधको सब वर्णोंका सामान्य धर्म कहा है :—

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलताको भी गिनाया गया है (अनुशासन १२०.१०)। गोतमने ठीक ही कहा था कि मनुष्यकी मनुष्यता यही है कि वह सबके दुख-सुखको सहानुभूतिके साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित बन्धन ही मनुष्यको मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्मका मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजानमें भी हमारी भाषामें यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखूनके बढ़नेपर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमीको पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेनेको कमर कसे है।

मनुष्यको सुख कैसे मिलेगा ? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओंकी कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढ़ाओ, और धनकी वृद्धि करो, और बाह्य उपकरणोंकी ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा था—बाहर नहीं, भीतरकी ओर देखो। हिंसाको मनसे दूर करो, मिथ्याको हटाओ, क्रोध और द्वेषको दूर करो, लोकके लिये कष्ट सहो। आरामकी बात मत सोचो, प्रेमकी बात सोचो; आत्म-पोषणकी बात सोचो, काम करनेकी बात सोचो। उसने कहा—प्रेम ही बड़ी चीज़

है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृङ्खलता पशुकी प्रवृत्ति है, 'स्व'का बन्धन मनुष्यका स्वभाव है। बूढ़ेकी बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दो गयी। आदमीके नाखून बढ़नेकी प्रवृत्ति ही हावी हुयी। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढ़ेने कितनी गहराईमें पैठकर मनुष्यकी वास्तविक चरितार्थताका पता लगाया था !

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जब कि मनुष्यके नाखूनोंका बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियोंका ऐसा अनुमान है कि मनुष्यका अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गयी है। उस दिन मनुष्यकी पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मरणास्त्रोंका प्रयोग भी बन्द कर देगा। तबतक इस बातसे छोटे बच्चोंको परिचित करा देना वाञ्छनीय जान पड़ता है कि नाखूनका बढ़ना मनुष्यके भीतरकी पशुताकी निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनष्यकी अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवनमें अस्त्र-शस्त्रोंका बढ़ने देना मनुष्यकी पशुताकी निशानी है और उनकी बाढ़को रोकना मनुष्यत्वका तकाजा है। मनुष्यमें जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्वका द्योतक है और अपनेको संयत रखना, दूसरेके मनोभावोंका आदर करना मनुष्यका स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तपसे प्राप्त वस्तुएँ मनुष्यकी महिमाको सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थतामें अन्तर है। मनुष्य मरणास्त्रोंके संचयनसे बाह्य उपकरणोंके बाहुल्यसे उस वस्तुको पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बरके साथ सफलता नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्यकी चरितार्थता प्रेममें है, मैत्रीमें है, त्यागमें है, अपनेको सबके मङ्गलके लिये निःशेष भावसे दे देनेमें है। नाखूनोंका बढ़ना मनुष्यकी उस अन्ध सहजात वृत्तिका परिणाम है, जो उसके जीवनमें सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व'-निर्धारित आत्म-बन्धनका फल है, जो उसे चरितार्थताकी ओर ले जाती है।

कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

आम फिर बौरा गये !

वसन्तपञ्चमीमें अभी देर है पर आम अभीसे बौरा गये। हर साल ही मेरी आँखें इन्हें खोजती हैं। बचपनमें सुना था कि वसन्तपञ्चमीके पहले अगर आम्रमञ्जरी दिख जाय तो उसे हथेलीमें रगड़ लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी हथेली साल भरतक बिच्छूके जहरको आसानीसे उतार देती है। बचपनमें कई बार आमकी मञ्जरी हथेलीपर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता। पर वसन्तपञ्चमीके पहले जब कभी आम्रमञ्जरी दिख जाती है तो बिच्छूकी याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छूमें क्या सम्बन्ध है? बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टिके समय जैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। जल-प्रलयके पहलेवाली चट्टानोंकी दरारोंमें इसका जैसा शरीर पाया गया है, आज भी वैसा ही है। कम जन्तु इतने अपरिवर्तनशील रहे होंगे। उधर आममें जितना परिवर्तन हुआ है उतना बहुत कम वस्तुओंमें हुआ होगा। पण्डित लोग कहते हैं कि 'आम्र' शब्द 'अम्र' वा 'अम्ल' शब्दका रूपान्तर है। 'अम्र' अर्थात् खट्टा। आम शुरू शुरूमें अपनी खटाईके लिये ही प्रसिद्ध था। वैदिक आर्य लोगोंमें इस फलकी कोई विशेष कदर नहीं थी। वहाँ तो 'स्वादु उदुम्बरम्' या जायकेदार गूलर ही बड़ा फल था। लेकिन 'अमृत' शब्द कुछ इसी 'अम्र' का रूपान्तर रहा होगा। पहले शायद सोमरसके खटाये हुए रसको ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बादमें 'आम्र' संसारका सबसे मीठा फल बन गया और 'अम्रित' अमृत बन गया। अपना-अपना भाग्य है। शब्दोंके भी भाग्य होते हैं। परन्तु यह सब अनुमान ही अनुमान है। सच भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। पण्डितोंसे कौन लड़ता फिरे! लेकिन बिच्छूके साथ आमका सम्बन्ध चक्करमें डाल देनेवाला है

अवश्य। मैं जब आमकी मनोहर मञ्जरियोंको देखता हूँ तब बिच्छूकी याद आ जाती है। बिच्छू—जो संसारका सबसे पुराना, सबसे खूँसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है! प्रायः मोहक वस्तुओंको देखकर मनहूस लोगोंकी याद आ जाती है! सबको आती है क्या?

जरा तुक मिलाइये। आम्रमञ्जरी मदन देवताका अमोघ बाण है और बिच्छू मदनविध्वंसी महादेवका अचूक बाण है। योगीने भोगीको भस्म-कर दिया पर भोगीका अस्त्र योगीके अस्त्रको व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपनका। परन्तु सारी दुनिया—यानी बच्चोंकी दुनिया!—इस बातको सच मानती आ रही है।

परसाल भी मैंने बसन्तपञ्चमीके पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गये। उसी आमको दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रुकके ही फूलते। कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्रने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नवल बधूके समान यह बिचारी आम्र-मञ्जरी जरासा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसोंको देखकर लजा गयी! वस्तुतः यह मेरे मित्रकी कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुँह दिखाने लायक न रहता। पर मुझे इतिहासकी बात याद आ गयी। उससे मैं आश्वस्त हुआ. मनहूस कहानेकी बदनामीसे बच गया। वह इतिहास मनोरञ्जक है। सुनाता हूँ।

बहुत पहले कालिदासने इसी प्रकार एक बार आम्र-मञ्जरीको सकुचाते देखा था। शकुन्तला नाटकमें वे उसका कारण बता गये हैं। दुष्यन्त पराक्रमी राजा थे। उनके हृदयमें एक बार प्रिया-वियोगकी विषम ज्वाला जल रही थी, तभी बसन्तका पदार्पण हुआ। राजाने बसन्तोत्सव न करनेकी आज्ञा दी। आम बिचारा बुरी तरह छका। इसका स्वभाव थोड़ा चञ्चल है। बसन्त आया नहीं कि व्याकुल होकर फूट पड़ता है। उस बार भी हजरत पुलकित हो गये। तबतक राजाकी आज्ञा हुई। बेवकूफ बनना

पड़ा। इन कलियोंके रूपमें मदन देवताने अपना बाण चढ़ाया था। बिचारे अधखिंचे धनुषके बाण समेटनेको बाध्य हुए—'शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्'। आजकल दुष्यन्त जैसे प्रतापी राजा नहीं हैं। पर पिछली बार भी जब मदन देवताको अपना अर्धकृष्ट शर समेटना ही पड़ा था तो कैसे कहा जाय कि वैसे प्रतापी लोग अब नहीं हैं! जरूर कोई न कोई पराक्रमी मनुष्य कहीं-न-कहीं विरह-ज्वालामें सन्तप्त हो रहा होगा। कार्य जब है तो कारण भी होगा ही। इतिहास बदल थोड़े जायगा। और इस घटनाके बाद जब कोई कालिदासको मनहूस नहीं कहता तो मुझे हीं क्यों कहेगा?

आशा करता हूँ, इस बार आम्र-मञ्जरीको मुरझाना नहीं पड़ेगा। आहा, कैसा मनोहर कोरक है। बलिहारी है इस 'आताम्रहरित-पाण्डुर' शोभाकी। अभी सुगन्धि नहीं फैली है किन्तु देर भी नहीं है। कालिदास-ने आम्र-कोरकोंको बसन्त-कालका 'जीवितसर्वस्व' कहा था। उन दिनों भारतीय लोगोंका हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुन्दरका सम्मान करना जानते थे। गृहदेवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्रकोरकको देखकर आनन्द-विह्वल हो जाती थीं। वे इस 'ऋतुमङ्गल' पुष्पको श्रद्धा और प्रीतिकी दृष्टिसे देखती थीं। आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है। पुरानी बातें पढ़नेसे ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अधभूला पुराना सपना है। रस मिलता है पर प्रतीति नहीं होती। एक अजब आवेशके साथ पढ़ता हूँ—

आत्तम्महरियपाण्डुर जीवितसव्वं वसन्तमासस्स।
दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि॥

आम्रकोरकोंको प्रसन्न करनेकी बात भग्नोच्छ्वासकी बहकके समान सुनायी देती है। मनुष्यचित्त इतना नहीं बदल गया है कि पहचानमें ही न आये। पहले लोग अगर आम्रकोरक देखकर नाच उठते थे तो इन दिनों कमसे कम उछल जरूर पड़ना चाहिए। पुष्प-भारसे लदे हुए आम्र-वृक्षको

देखकर सहज भावसे निकल जानेवाले सैकड़ों मनुष्योंको मैंने अपनी आँखों देखा है। कोई नाच नहीं उठता। परन्तु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी। छपायी तो अब भी नहीं है, पर सोचता हूँ छपा देनी चाहिए। बहुत होगा लोग कहेंगे, कवितामें कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि हूँ जो अकवि कहानेकी बदनामीसे डरूँ। यह कविता आम्र-कोरकोंकी अद्‌भुत विह्वलकारिणी शक्तिका परिचायक होकर मेरे पास पड़ी हुई है।

कामशास्त्रमें सुवसन्तक' नामक उत्सवकी चर्चा आती है। सरस्वती-कण्ठाभरणमें लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतारके दिनको कहते हैं। वसन्तावतार अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वीपर अवतरित होता है। मेरा अनुमान है, वसन्तपञ्चमी ही वह वसन्तावतार की तिथि है। मात्स्यसूक्त और हरिभक्तिविलास आदि ग्रन्थोंमें इसी दिनको वसन्तका प्रादुर्भाव-दिवस माना गया है। इसी दिन मदन देवताकी पहली पूजा विहित है। यह भी अच्छा तमाशा है। जन्म हो वसन्तका और उत्सव मदन देवताका। कुछ तुक नहीं मिलता। मेरा मन पुराने जमानेके उत्सवोंको प्रत्यक्ष देखना चाहता है पर हाय देखना क्या सम्भव है? सरस्वती-कण्ठाभरणमें महाराज भोजदेवने सुवसन्तककी एक हल्की-सी झाँकी दी है। इस दिन उस युगकी ललनाएँ कण्ठमें कुवलयकी माला और कानमें दुर्लभ आम्र-मञ्जरियाँ धारण करके गाँवको जगमग कर देती थीं--

ह्णपिट्ठ धूसरत्थणि, महुमअतम्मच्छि कुवलआहरणे।
कण्णकअ चूअमंजरि, पुत्ति तुए मंडिओ गामो॥

पर यह अपेक्षाकृत परवर्ती समाचार है। इसके पहले क्या होता था? क्या वसन्तके जन्मदिनको मदनका जन्मोत्सव मनाया जाता था? धर्म-शास्त्रकी पोथियोंमें लिखा है कि वसन्तपञ्चमीके दिन मदन देवताकी पूजा करनेसे स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं। यह और मजेदार बात

निकली। तान्त्रिक आचारसे विष्णु-भजन करनेवाले बताते हैं कि 'काम-गायत्री' ही श्रीकृष्ण-गायत्री है। तो कामदेव और श्रीकृष्ण अभिन्न देवता हैं? पुराणोंमें लिखा है कि काम देवता श्रीकृष्णके घर पुत्र-रूपमें उत्पन्न हुए थे। यह कथा भी कुछ अपने ढंगकी अनोखी ही है। कामदेव प्रद्युम्नके रूपमें पैदा हुए और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें हर ले गया और समुद्रमें फेंक दिया। मछली उन्हें खा गयी। संयोगवश वही मछली शम्बरकी भोजनशालामें गयी और बालक फिर उसके पेटसे बाहर निकला। काम देवताकी पत्नी रतिदेवी वहाँ पहलेसे ही मौजूद थीं। और ऐसे मौकोंपर जिस व्यक्तिका पहुँचना नितान्त आवश्यक होता है, वे नारद मुनि भी वहाँ पहुँच गये। रतिको सारी बातें उन्हींसे मालूम हुईं। प्रद्युम्न पाले गये, शम्बर मारा गया, श्रीकृष्णके घरमें पुत्र ही नहीं, पुत्रवधू भी यथासमय पहुँच गयी; इत्यादि इत्यादि। पुराणोंमें असुर प्रायः ही शैव बताये गये हैं। कामदेव उनके दुश्मन हों यह तो समझमें आ जाता है, भागवतोंसे उसका सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? मेरा मन अधभूले इतिहासके आकाशमें चीलकी तरह मँडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आयी नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दिख नहीं रहा है। सुदूर इतिहासके कुज्झटिकाच्छन्न नभोमण्डलमें कुछ देख लेनेकी आशा पोसना ही मूर्खता है। पर आदत बुरी चीज है। आर्योंके साथ असुरों, दानवों और दैत्योंके संघर्षसे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रहकर मेरा ध्यान मनुष्यकी इस अद्भुत विजय-यात्राकी ओर खिंच जाता है। कितना भयङ्कर संघर्ष वह रहा होगा जब घरमें पालनेपर सोये हुए लड़केतक चुरा लिये जाते होंगे और समुद्रमें फेंक दिये जाते होंगे; पर हम किस प्रकार उसको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षोंके उपास्य देवताओंको समान श्रद्धाके साथ ग्रहण किये हुए हैं? आज इस देशमें हिन्दू और मुसलमान इसी प्रकारके लज्जाजनक संघर्षमें व्यापृत हैं। बच्चों और स्त्रियोंको मार डालना, चलती गाड़ीसे फेंक देना, मनोहर

घरोंमें आग लगा देना मामूली बातें हो गयी हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जायँगी। दोनों दलोंकी अच्छी बातें ले ली जायँगी, बुरी बातें छोड़ दी जायँगी। पुराने इतिहासकी ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी निकम्मी आदतोंसे भी आराम मिलता है।

तो, यह जो भागवत पुराणका शम्बर असुर है, इसका नाम अनेक तरहसे पुराने साहित्यमें लिखा मिलता है, शम्बर भी मिलता है, सम्बर भी और शाबर या साबर भी। कोई विदेशी भाषाका शब्द होगा, पण्डितोंने नानाभावसे सुधारकर लिख लिया होगा। यह इन्द्रजाल या जादू विद्याका आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुधान' है। यातु और जादू शब्द एक ही शब्दके भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक भारतवर्षका है, दूसरा ईरानका। ऐसे अनेक शब्द हैं। ईरानमें थोड़ा बदल गये हैं और हम लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं। 'खुदा' शब्द असलमें वैदिक 'स्वधा' शब्दका भाई है। 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा सम्बन्धी है। 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेशमें सजा दें तो 'जादूदाँ' हो जायगा। कालिका पुराणमें शाबर असुरके नामपर होनेवाले शाबरोत्सवका* उल्लेख है जिसमें अश्लील गाली देना और सुनना जरूरी हुआ करता था। यह उत्सव सावनमें मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूपसे उसमें भाग लेती थीं। संसारमें सभी देशोंमें एक दिन सालमें ऐसा जरूर मनाया जाता है जिसमें अश्लील गाली-गलौज आवश्यक माना जाता है। अपने यहाँ फागुन-चैतमें इस प्रकारका उत्सव मनाया जाता है। इसीको मदनोत्सव कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि क्या मदनोत्सवके समान एक और उत्सव इस देशमें प्रचलित था जिसके मुख्य उद्योक्ता असुर लोग थे? असुरोंके साथ मदन देवताके संघर्षसे क्या इसी लिए दो विभिन्न संस्कृतियोंका द्वन्द्व प्रकट होता है? कौन बताएगा?

आर्योंको इस देशमें सबसे अधिक संघर्ष असुरोंसे ही करना पड़ा था।

दैत्यों, दानवों और राक्षसोंसे भी उनकी बजी थी, पर असुरोंसे निपटनेमें उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरहसे वे सभ्य थे। उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये थे, महल बनाये थे, जल-स्थलपर अधिकार जमा लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंसे आर्योंको कभी विशेष नहीं लड़ना पड़ा। ये जातियाँ अधिक शान्तिप्रिय थीं। विलासिता-की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। काम देवता या कन्दर्प वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। केवल उच्चारण बदल गया है। ये लोग आर्योंसे मिल गये थे। असुरोंने इनसे बदला लिया था। पर अन्ततक असुर विजयी नहीं हुए। उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।

लेकिन आम्र-मञ्जरीके साथ बिच्छूका सम्बन्ध अब भी मुझे चक्करमें डाले हुए है। पोथियाँ पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोक-प्रवादोंको हँसकर उड़ा देनेकी शक्ति अभी सञ्चय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादोंमें मनुष्य-समाजका जीवन्त इतिहास सुरक्षित है। जब कभी लोक-परम्पराके साथ किसी पोथीका विरोध हो जाता है तो मेरे मनमें कुछ नवीन रहस्य पानेकी आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं; पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पण्डितोंकी बातमें मुझे असंगति दिख जाती है। कहनेमें हिचकता हूँ, नये पण्डितोंके क्रोधसे डरता हूँ, पर मनसे यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पण्डितकी बातकी संगति लोक-परम्परासे ही लग सकती है। कहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो। एक उदाहरण दूँ।

क्षेमेन्द्र बहुत बड़े सहृदय और बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने बहुत-सी पोथियाँ लिखी हैं। एकका नाम है 'औचित्य-विचार-चर्चा'। उसमें उन्होंने संज्ञा शब्दोंके औचित्यके प्रसंगमें कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटक-का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राजाने विरहातुर अवस्थामें कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओंके लिए मचल पड़नेवाला पञ्चबाण (कामदेव) मेरे चित्तको छलनी किये डालता है, अब मलय-पवनसे

आन्दोलित इन आम्र-वृक्षोंने अंकुर दिखा दिये। अब तो बस भगवान् ही मालिक हैं—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥

अब सहृदय-शिरोमणि क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यह कामदेवको पञ्चबाण कहना उचित ही हुआ है। कामदेवके पञ्चबाणोंमें एक तो यही आम्र-मञ्जरीका अङ्कुर है। लेकिन मैं बिल्कुल उलटा सोच रहा हूँ। मैं कहता हूँ, पञ्चबाण कहनेसे ही तो आम्रकोरक भी कह डाले गये, फिर दुबारा उनकी चर्चा करना कहाँ संगत है? मैं अगर अच्छा पण्डित होता तो क्षेमेन्द्रकी भी गलती निकालता और कालिदासका भी अनौचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेदके साथ कहता हूँ कि मैं 'अच्छा' पण्डित नहीं हूँ। मेरा मन पूछता है कि क्या कालिदास आम्र-मुकुलोंको मदन देवताके पाँच बाणोंमें नहीं गिनते थे? वैसे तो संसारके सभी फूल मदन देवताके तूणीरमें आ ही सकते हैं पर कालिदासके युगमें लोक-प्रचलित कोई विश्वास ऐसा अवश्य रहा होगा कि आम पाँच बाणोंसे अतिरिक्त है। ऐसा न होता तो कालिदास इस श्लोकमें 'पञ्चबाण' शब्दका प्रयोग न करते। सबूत दे सकता हूँ। पर सुनता कौन है? कालिदासने एक जगह आम्र-कोरकोंको यह अशीर्वाद दिलाया है कि तुम कामके पाँच बाणोंसे अभ्यधिक बाण बनो। इस 'अभ्यधिक' शब्दका सीधा अर्थ तो यही मालूम होता है कि पाँचसे अधिक छठा बाण बनो। पर पण्डित लोग कहते हैं कि इसका सही अर्थ है पाँचोंमें सबसे अधिक तीक्ष्ण। होगा बाबा, कौन झमेलेमें पड़े। क्या अतीतके अन्धकारमें झाँकनेसे कुछ दिख नहीं सकता? मदन देवता हमारे साहित्यमें कब आये और उनके बाणोंका भी क्या कोई इतिहास

है ? और फिर बिच्छूसे इसका कोई नाता-रिश्ता भी है क्या ?

पुराणोंकी गवाहीपर मान लिया जा सकता है कि असुरोंकी आखिरी हार अनिरुद्ध और ऊषाके विवाहके अवसरपर हुई थी। असुरोंकी ओरसे भगवान् शंकरका समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्णसे गुँथे थे, प्रद्युम्न अर्थात् काम-देवता स्कन्द (देवसेनापति) से। शिवजीके दलमें भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, वेताल थे, विनायक थे, डाकिनियाँ थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे—यानी पूरी सेना थी। साँप-बिच्छू भी रहे ही होंगे। और तो और, मैलेरियाका बुखार भी था। इस लड़ाईमें असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। देवताओंके दुर्धर्ष सेनापतिको कामावतार प्रद्युम्नसे हारना पड़ा। मोर समेत विचारे भाग खड़े हुए। भागवतमें यह कथा बड़े विस्तारसे कही गयी है। इसके बाद इतिहासमें कहीं असुरोंने सिर नहीं उठाया। शिवजीकी सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्नने आम्रकोरकोंका बाण सन्धान किया और बिचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहासमें दबी रह गयी। लेकिन लोग जान गये हैं और बच्चोंकी दुनियाको भी पता लग ही गया है।

मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। फूल तो दुनियामें अनेक हैं। आम, लेकिन, फूलकी अपेक्षा फल रूपमें अधिक विख्यात है। कवि लोगोंकी बात छोड़िये। वे लोग कभी-कभी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बोलते ही हैं। अपने भीतर जरा-सी सुड़सुड़ी हुई नहीं कि समझ लेते हैं कि सारी दुनिया इसी प्रकार पागल हो गयी है। हमलोग भी जानते हैं कि आमकी मंजरी मादक होती है लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार-मंजरीके केसरसे मूर्छमान हो और मधुपानके लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे बसन्तमें किसके चित्तमें उत्कण्ठा नहीं लहरा उठती ?—

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा ?

अब, अगर किसी सभामें आप यही सवाल पूछ बैठें तो प्रायः सौ फी सदी भले आदमी ही 'मम' 'मम' कहकर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनीहीसी कहे जायगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखाकर अगर आप पूछें कि इसे पानेकी उत्कण्ठा किसे नहीं है तो सारी सभा चुप रहेगी। सब मन-ही-मन कहेंगे, ऐसा भी पूछना क्या उचित है? आम देखकर किसका जी नहीं ललचाएगा? एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ चीन गये थे। उन्हें आम खानेको नहीं मिला। उन्होंने अपने एक साथीसे विनोदमें कहा—'देखिये, मैं जितने दिनतक जिऊँ उसका हिसाब कर लेनेके बाद उसमेंसे एक साल कम कर दीजियेगा। क्योंकि जिस सालमें आम खानेको नहीं मिला उसको मैं व्यर्थ समझता हूँ।' अबतक यह रिपोर्ट नहीं मिली कि किसी कविने आम्र-मंजरीकी सुगन्धि न पानेके कारण अपने जीवनके किसी वर्षको व्यर्थ समझा हो। तो मेरा कहना यह है कि आमके फूलोंका वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिए। अरविन्दका हो, अशोकका हो, नवमल्लिकाका हो, नीलोत्पलका हो। इनमें फल या तो आते ही नहीं या आते भी हैं तो नहीं आनेके बराबर। ये काम-देवताके अस्त्र बन सकते हैं; क्योंकि ये अप्सरा जातिके पुष्प हैं। इनका सौन्दर्य केवल दिखावेका है। काम देवताके ये दुलारे हो सकते हैं। पर आमको क्यों घसीटते हो बाबा? यह अन्नपूर्णाका प्रसाद है। यह धन्वन्तरिका अमृत-कलश है। यह धरती माताका मधुर दुग्ध है।

मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फलको कोई व्यवहारमें ही नहीं लाता था। सम्भवतः यह भी हिमालयके पार्वत्य देशका जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक और दिगन्तको मूर्छित कर देनेवाला आमोद ही लोक-चित्तको मोहित करते थे। धीरे-धीरे यह फल मैदानमें आया। मनुष्यके हाथ रूपी पारससे छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। गङ्गाकी सुवर्णप्रसू मृत्तिकाने इसका कायाकल्प कर दिया है। मैं आश्चर्यसे

मनुष्यकी अद्‌भुत शक्तिकी बात सोचता हूँ। आलू क्या-से-क्या हो गया, बैंगन वंटकारीसे वार्ताकु बन गया। आम भी उसी प्रकार बदला है। न जाने मनुष्यके हाथोंसे विधाताकी सृष्टिमें अभी क्या-क्या परिवर्तन होनेवाले हैं। आज तो दुर्भिक्ष और अन्न-संकटका हाहाकार चित्तको मथ रहा है वह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उसपर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थोंको उसने व्यवहार्य बनाया है, कितनी खटाई उसके हाथों 'अमृत' बनी है। कौन जाने यह महान् 'गोधूम' लता (गेहूँ) किसी दिन सचमुच गायोंके लगनेवाले मच्छरोंको भगानेके लिए धुआँ पैदा करनेके काम आती हो ! निराश होनेकी कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्वका दुर्जय प्राणी है।

हाँ, तो उसी बहुत पुराने जमानेमें गन्धर्व या (जैसा कि इसका एक दूसरा उच्चारण संस्कृतमें प्रचलित है) कन्दर्प देवताने अपने तरकसमें इस बाणको सजाया था। कवियोंको उसी आदिम कालका सन्देश वसन्तमें सुनायी देता है। लोग क्या गलत कहा करते हैं कि जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि। किस भूले युगकी कथा वे आज भी गाये जा रहे हैं ! कालिदास जरूर कुछ झिझके थे। शायद उनके जमानेके सहृदय लोग आमको अरविन्द, अशोक और नवमालिकाकी पंगतमें बैठानेमें हिचकते थे। अच्छा करते थे। वात्स्यायन कामशास्त्रमें जहाँ आम और माधवीलताके विवाहके विशुद्ध विनोदका उत्सव सुझा गये हैं, वहाँ नवाम्रखादनिका या आमके नये टिकोरोंको खानेके उत्सवको भूले नहीं हैं। आमकी मंजरी विधाताका वरदान है पर आमका फल मनुष्यकी बुद्धिका परिणाम है। मनुष्य प्रकृतिको अनुकूल बना लेनेवाला अद्‌भुत प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्यजनक है पर इसको समझनेके लिए प्रयत्न करनेवाला और इसे करतलगत करनेके लिए जूझनेवाला यह मनुष्य और भी आश्चर्यजनक है। आम्रमंजरी उसी अचरजका सन्देश लेकर आयी है। 'उदुमंगल तुमं पसाएमि !'!

शिरीषके फूल

जहाँ बैठके यह लेख लिख रहा हूँ उसके आगे, पीछे, दायें, बायें, शिरीषके अनेक पेड़ हैं। जेठकी जलती धूपमें, जब कि धरित्री निर्धूम अग्निकुण्ड बनी हुई थी, शिरीष नीचेसे ऊपरतक फूलोंसे लद गया था। कम फूल इस प्रकारकी गर्मीमें फूल सकनेकी हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और आरग्वध (अमलतास) की बात मैं भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आस-पास बहुत हैं। लेकिन शिरीषके साथ आरग्वधकी तुलना नहीं की जा सकती। वह पन्द्रह-बीस दिनके लिए फूलता है, वसन्त ऋतुके पलाशकी भाँति। कबीरदासको इस तरह पन्द्रह दिनके लिए लहक उठना पसन्द नहीं था। यह भी क्या कि दस दिन फूले और फिर खंखड़-के-खंखड़—'दिन दस फूला फूलिके खंखड़ भवा पलास'! ऐसे दुमदारोंसे तो लँडूरे भले। फूल है शिरीष। वसन्तके आगमनके साथ लहक उठता है, आषाढ़तक तो निश्चित रूपसे मस्त बना रहता है। मन रम गया तो भरे भादोंमें भी निर्घात फूलता रहता है। जब ऊमससे प्राण उबलता रहता है और लूसे हृदय सूखता रहता है, एकमात्र शिरीष कालजयी अवधूतकी भाँति जीवनकी अजेयताका मन्त्र प्रचार करता रहता है। यद्यपि कवियोंकी भाँति हर फूल-पत्तेको देखकर मुग्ध होने लायक हृदय विधाताने नहीं दिया है, पर नितान्त ठूँठ भी नहीं हूँ। शिरीषके पुष्प मेरे मानसमें थोड़ा हिल्लोल जरूर पैदा करते हैं।

शिरीषके वृक्ष बड़े और छायादार होते हैं। पुराने भारतका रईस जिन मंगल-जनक वृक्षोंको अपनी वृक्ष-वाटिकाकी चहारदीवारीके पास लगाया करता था, उनमें एक शिरीष भी है (वृहत्संहिता ५५।३) अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीषके छायादार और घन मसृण हरीतिमासे

परिवेष्टित वृक्ष-वाटिका जरूर बड़ी मनोहर दिखती होगी। वात्स्यायनने (कामसूत्रमें) बताया है कि वाटिकाके सघन छायादार वृक्षोंकी छायामें ही झूला (प्रेंखा दोला) लगाया जाना चाहिए। यद्यपि पुराने कवि बकुलके पेड़में ऐसी दोलाओंको लगा देखना चाहते थे, पर शिरीष भी क्या बुरा है। डाल इसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरूर होती है, पर उसमें झूलनेवालियोंका वजन भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता। कवियोंकी यही तो बुरी आदत है कि वजनका एकदम खयाल नहीं करते। मैं तुन्दिल नरपतियोंकी बात नहीं कह रहा हूँ, वे चाहें तो लोहेका पेड़ बनवा लें।

शिरीषका फूल संस्कृत साहित्यमें बहुत कोमल माना गया है। मेरा अनुमान है कि कालिदासने यह बात शुरू-शुरूमें प्रचार की होगी। उनका कुछ इस पुष्पपर पक्षपात था (मेरा भी है)। कह गये हैं, शिरीष पुष्प केवल भौंरोंके पदोंका कोमल दबाव सहन कर सकता है, पक्षियोंका बिलकुल नहीं—'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीष पुष्पं न पुनः पतत्रिणाम्!' अब मैं इतने बड़े कविकी बातका विरोध कैसे करूँ? सिर्फ विरोध करनेकी हिम्मत न होती तो भी कुछ कम बुरा नहीं था, यहाँ तो इच्छा भी नहीं है। खैर, मैं दूसरी बात कह रहा था। शिरीषके फूलोंकी कोमलता देखकर परवर्ती कवियोंने समझा कि उसका सब-कुछ कोमल है! यह भूल है। इसके फल इतने मजबूत होते हैं कि नये फूलोंके निकल आनेपर भी स्थान नहीं छोड़ते। जबतक नये फल पत्ते मिलकर धकियाकर उन्हें बाहर नहीं कर देते तबतक वे डटे रहते हैं। वसन्तके आगमनके समय जब सारी वनस्थली पुष्प-पत्रसे मर्मरित होती रहती है, शिरीषके पुराने फल बुरी तरह खड़खड़ाते रहते हैं। मुझे इनको देखकर उन नेताओंकी बात याद आती है, जो किसी प्रकार जमानेका रुख नहीं पहचानते और जबतक नयी पौधके लोग उन्हें धक्का मारकर निकाल नहीं देते तबतक जमे रहते हैं।

मैं सोचता हूँ कि पुरानेकी यह अधिकार-लिप्सा क्यों नहीं समय

रहते सावधान हो जाती ? जरा और मृत्यु ये दोनों ही जगत्के अतिपरिचित और अतिप्रामाणिक सत्य हैं। तुलसीदासने अफसोसके साथ इनकी सचाईपर मुहर लगायी थी,—'धरा को प्रमान यही तुलसी जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना !' मैं शिरीषके फलोंको देखकर कहता हूँ कि क्यों नहीं फलते ही समझ लेते बाबा, कि झड़ना निश्चित है ! सुनता कौन है ? महाकाल देवता सपासप कोड़े चला रहे हैं, जीर्ण और दुर्बल झड़ रहे हैं, जिनमें प्राणकणा थोड़ा भी ऊर्ध्वमुखी है, वे टिक जाते हैं। दुरंत प्राणधारा और सर्वव्यापक कालाग्निका संघर्ष निरन्तर चल रहा है। मूर्ख समझते हैं कि जहाँ बने हैं वहीं देरतक बने रहें तो कालदेवताकी आँख बचा जाएँगे। भोले हैं वे। हिलते-डुलते रहो, स्थान बदलते रहो, आगेकी ओर मुँह किये रहो तो कोड़ेकी मारसे बच भी सकते हो। जमे कि मरे।

एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊधोका लेना, न माधोका देना। जब धरती और आसमान जलते रहते हैं तब भी यह हजरत न-जाने कहाँसे अपना रस खींचते रहते हैं। मौजमें आठों याम मस्त रहते हैं। एक वनस्पति शास्त्रीने मुझे बताया है कि यह उस श्रेणीका पेड़ है जो वायुमण्डलसे अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयंकर लूके समय इतने कोमल तंतुजाल और ऐसे सुकुमार केसरको कैसे उगा सकता था। अवधूतोंके मुँहसे ही संसारकी सबसे सरस रचनाएँ निकली हैं। कबीर बहुत-कुछ इस शिरीषके समान ही थे, मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे। शिरीषके फूल फक्कड़ाना मस्तीसे ही उपज सकते हैं और मेघदूतका काव्य उसी प्रकारके अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदयमें उमड़ सकता है। जो कवि अनासक्त नहीं रह सका, जो फक्कड़ नहीं बन सका, जो किये-करायेका लेखा-जोखा मिलानेमें उलझ गया, वह भी क्या कवि

है ? कहते हैं कर्णाट-राजकी प्रिया विज्जिका देवीने गर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वाल्मीक और तीसरे व्यास। एकने वेदोंको दिया, दूसरेने रामायणको और तीसरेने महाभारतको। इनके अतिरिक्त और कोई यदि कवि होनेका दावा करे तो मैं कर्णाट-राजकी प्यारी रानी उनके सिरपर अपना बायाँ चरण रखती हूँ—"तेषां मूर्ध्नि ददामि वाम-चरणं कर्णाट-राजप्रिया !" मैं जानता हूँ कि इस उपालम्भसे दुनियाका कोई कवि हारा नहीं है पर इसका मतलब यह नहीं कि कोई लजाये नहीं तो उसे डाँटा भी न जाय। मैं कहता हूँ कि कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीषकी मस्तीकी ओर देखो। लेकिन अनुभवने मुझे बताया है कि कोई किसीकी सुनता नहीं। मरने दो !

कालिदास वज़न ठीक रख सकते थे ; क्योंकि वे अनासक्त योगीकी स्थिर-प्रज्ञता और विदग्ध-प्रेमीका हृदय पा चुके थे। कवि होनेसे क्या होता है ? मैं भी छंद बना लेता हूँ, तुक जोड़ लेता हूँ और कालिदास भी छंद बना लेते थे—तुक भी जोड़ ही सकते होंगे--इसलिए हम दोनों एक श्रेणीके नहीं हो जाते। पुराने सहृदयने किसी ऐसे ही दावेदारको फटकारते हुए कहा था--'वयमपि कवयः कवयः कवयस्ते कालिदासाद्याः !' मैं तो मुग्ध और विस्मय-विमूढ़ होकर कालिदासके एक-एक श्लोकको देखकर हैरान हो जाता हूँ। अब इस शिरीषके फूलका ही एक उदाहरण लीजिए। शकुन्तला बहुत सुन्दर थी। सुन्दर क्या होनेसे कोई हो जाता है ? देखना चाहिए कि कितने सुन्दर हृदयसे वह सौन्दर्य डुबकी लगाकर निकला है। शकुन्तला कालिदासके हृदयसे निकली थी। विधाताकी ओरसे कोई कार्पण्य नहीं था, कविकी ओरसे भी नहीं। राजा दुष्यन्त भी अच्छे-भले प्रेमी थे। उन्होंने शकुन्तलाका एक चित्र बनाया था ; लेकिन रह-रहकर उनका मन खीझ उठता था। उहूँ, कहीं न-कहीं कुछ छूट गया है। बड़ी देरके बाद उन्हें समझमें आया कि शकुन्तलाके कानोंमें वे उस शिरीष पुष्पको देना भूल गये हैं, जिसके केसर गण्डस्थलतक लटके

हुए थे, और रह गया है शरच्चन्द्रकी किरणोंके समान कोमल और शुभ्र मृणालका हार।

> कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
> शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
> न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
> मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥

कालिदासने यह श्लोक न लिख दिया होता तो मैं समझता कि वे भी बस और कवियोंकी भाँति कवि थे, सौन्दर्यपर मुग्ध, दुःखसे अभिभूत, सुखसे गद्गद!! पर कालिदास सौन्दर्यके बाह्य आवरणको भेदकर उसके भीतरतक पहुँच सकते थे, दुःख हो कि सुख, वे अपना भाव-रस उस अनासक्त कृषीवलकी भाँति खींच लेते थे जो निर्दलित ईक्षुदण्डसे रस निकाल लेता है। कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणीकी अनासक्ति आधुनिक हिन्दी कवि सुमित्रानन्दन पंतमें है। कविवर रवीन्द्रनाथमें यह अनासक्ति थी। एक जगह उन्होंने लिखा है—'राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्पकला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गन्तव्य स्थान उसे अतिक्रम करनेके बाद ही है। यही बताना उसका कर्तव्य है।' फूल हो या पेड़ वह अपने-आपमें समाप्त नहीं है। वह किसी अन्य वस्तुको दिखानेके लिए उठी हुई अँगुली है। वह इशारा है।

शिरीष तरु सचमुच पक्के अवधूतकी भाँति मेरे मनमें ऐसी तरंगें जगा देता है जो ऊपरकी ओर उठती रहती हैं। इस चिलकती धूपमें इतना सरस वह कैसे बना रहता है? क्या ये बाह्य परिवर्तन—धूप, वर्षा, आँधी, लू,—अपने-आपमें सत्य नहीं हैं? हमारे देशके ऊपरसे जो यह मार-काट, अग्निदाह, लूट-पाट, खून-खचरका बवंडर बह गया है, उसके भीतर भी

क्या स्थिर रहा जा सकता है ? शिरीष रह सका है। अपने देशका एक बूढ़ा रह सका था। क्यों ? मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों सम्भव हुआ ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है और अपने देशका वह बूढ़ा भी अवधूत था। शिरीष वायुमण्डलसे रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गांधी भी वायुमण्डलसे रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सका था। मैं जब-जब शिरीषकी ओर देखता हूँ तब-तब हूक उठती है—हाय, वह अवधूत आज कहाँ है !

भगवान् महाकालका कुण्ठनृत्य

भारतवर्ष विदेशी शासनसे मुक्त हो गया है। इस मुक्तिके पीछे हमारे देशका बड़ा ही रोमहर्षक इतिहास है। लाखों जेलमें सड़ते रहे हैं, हजारों घुल-घुलकर मर गये हैं, सैकड़ों फाँसीपर लटक गये हैं, अपार कष्टोंसे भरा हमारा मुक्ति-संग्राम अब समाप्त हुआ है। अपनी पराधीनता और बेबसीके दिनोंमें भी एक बातमें हम बराबर विरोधियोंसे बीस रहे हैं। हममें उनकी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक बल रहा है, घोर विपत्तिके क्षणोंमें भी हमने अन्याय-का पक्ष कभी नहीं लिया है, जिस बातको हम सत्य समझ रहे हैं उसके लिए बड़ासे बड़ा बलिदान देनेको तैयार भी रहे हैं। हमने निर्भीक भावसे, गर्वके साथ अपना मस्तक उन्नत रखा है। यही कारण है कि हम केवल जीतते ही गये हैं। महात्मा गाँधी जैसे युगावतारका नेतृत्व वरण करनेकी शक्ति और बुद्धिमत्ता हममें बराबर बनी रही है। अपने आचरण और वक्तव्योंसे हमने एशिया और अफ्रिकाके करोड़ों अधिवासियों और अन्य दुखी मनुष्योंमें आशा और उत्साहका संचार किया है। जिन लोगोंने इस अपूर्व मुक्ति-संग्रामको निरपेक्ष भावसे देखा है वे इसके नैतिक स्वरको देख-कर चकित रह गये हैं। किस प्रकार इस हीन अवस्थामें भी भारतवर्ष इतना उन्नत रह सका !

हमारे पूर्वज महापुरुषोंने शत्रुके भी गुणोंका बखान करनेकी सलाह दी है—शत्रोरपि गुणा वाच्याः। हमें अंग्रेजों जैसा शत्रु मिला था। अंगरेजमें हजार दोष हों, एक बड़ा भारी गुण भी है। उसे लाज शर्म है। वह अन्याय करता जरूर है पर उस अन्यायसे लज्जित भी होता है। क्योंकि उसकी परम्परा महान् है और उसके साहित्यमें उदात्त गुणोंकी प्रतिष्ठा है। बहुत कुछ भारतवर्ष जैसा ही। हमारा साहित्य और भी विशद है और भी धर्ममूलक है और हमारी परम्परा और भी महान् है और भी

उदार है। हममें भी लाज-हया बहुत है। नित्य समाचार-पत्रोंमें हम अपने नंगे विरोधियोंको देखते हैं जो झूठ बोलनेमें जरा भी संकुचित नहीं होते और पाप करके दूसरोंपर निर्लज्जतापूर्वक दोषारोपण करते हैं। सुनकर हमारा खून खौल जाता है। हम सोचते हैं कि ऐसा भी बेहया कोई हो सकता है! कभी कभी हम झुँझलाते हैं, अपने नेताओंके सदुपदेशोंसे चिढ़ जाते हैं, कह उठते हैं, बेहया लोगोंके सामने इन उपदेशोंका क्या मूल्य है। पर सही बात यह है कि हम बहुत अधिक बेहया हो नहीं सकते। उस रास्ते हम चाहें भी तो बढ़ नहीं सकते। हमारी हजारों वर्षों-की संस्कृति हमारा पैर जकड़ देती है। हमारा उदार साहित्य हमें लज्जित करता है। मुँहसे हम चाहे जितना चिढ़ लें और कुढ़ लें, लंगई और निर्लज्जता हमारे रक्तमें है ही नहीं। जब कभी वह आती है, क्षणिक आगन्तुकके रूपमें ही आती है।

यह सचाई है। यही वास्तविकता है। जो हम हो नहीं सकते उसके लिए प्रयत्न करना बेकार है। हम क्रूर और निर्लज्ज तो होनेसे रहे। उत्तेजनामें हम कभी घोर अन्याय कर सकते हैं परन्तु निश्चित रूपमें हम बादमें पछताएँगे। चुटकी बजाके हजारों वर्षकी संस्कृतिको उड़ाया नहीं जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि हममें दोष नहीं हैं। दोष एक-दो हैं? हमने कम पाप किये हैं? करोड़ोंको हमने अनजानमें नीच बना रखा है, करोड़ोंको जानबूझकर पैरों तले दबा रखा है, और करोड़ोंको हमने उपेक्षासे महान् सन्देशोंके अयोग्य समझ रखा है। नतीजा यह होता है कि जब हम आगे बढ़ने लगते हैं तब कुछ लोग नीचेकी ओर खींचते हैं—जिन्हें पैरों तले दबाया है वे कैसे आगे बढ़ने देंगे?—और कुछ लोग पीछेकी ओर खींचते हैं। सो, दोष तो हममें बहुत हैं, उसी संस्कृति और साहित्यने इन दोषोंको भी पाला-पोसा है। उसको खोलनेसे क्या फायदा है? यह शतच्छिद्र चादर खोलकर दिखानेकी चीज नहीं है, इसको तह लगाकर रख देना ही अच्छा है—'अयं पटः संवृत एव शोभते।' परन्तु यह सब होते हुए भी

हमारी परम्परा महान् और उदार है, हमारा साहित्य विशद और धर्ममूलक है। हम अपने इन दोषोंके लिए लज्जित होते हैं और जिसमें लाज-हया बच रही है उसकी रक्षा इतिहास-विधाता बराबर करते आये हैं। यह हमारी विशाल सांस्कृतिक महिमाका ही प्रभाव है कि हम अन्याय करके लज्जित होते हैं। और अगर यह लज्जा सच्ची हुई तो हम अन्यायका प्रतिकार भी कर सकते हैं। लाज-शर्मका रहना अच्छा है, अन्याय करके पछतानेकी आदत बुरी नहीं है। वैसे, सबसे अच्छी बात तो यह होती कि हम अन्याय करते ही नहीं। लेकिन आदमी आदमी ही है। कभी कभी उत्तेजित भी होता है, कभी कभी लज्जित भी होना चाहिए। बुरा है, लेकिन यह बुराई लंगईसे अच्छी है।

मुक्तिका संग्राम जिन दिनों चल रहा था, उन दिनों हमें महान् शत्रु मिला था। वह गुस्सेमें हमें कसकर मारता था लेकिन फिर पछताता था और अवसर मिलनेपर वीरताका सम्मान वीरकी ही भाँति करता था। मुक्तिका संग्राम समाप्त होते ही हमें दूसरे प्रकारके शत्रुओंसे पाला पड़ा है। कुछ तो ऐसे लंगे हैं कि 'राम राम' कहनेके सिवा कुछ दूसरा सूझता ही नहीं। कुछ ऐसे काइयाँ हैं कि बस मुँहमें राम बगलमें छुरी। इन सबके साथ निबटना है। निबटना तो होगा ही। दुश्मन दुश्मन है। घरमें हो तो, बाहर हो तो। और भारतवर्षका सबसे विकट शत्रु वह है जो लाज-हयाका नाम नहीं जानता, जो झूठ बोलकर गर्व करता है, जो छूरा भोंककर हँसा करता है। जिसे धर्म-कर्मसे कोई वास्ता नहीं उससे उलझना हमारे लिए बड़ा कठिन होगा। रक्तमें बेहयाई न हो तो उधार माँगनेसे थोड़े ही मिलेगी? और यही इस वीरप्रसू भूमिमें महाकालका कुण्ठ नृत्य शुरू होता है। हम अगर अबतकके साधे हुए महान् अस्त्रका उपयोग करते हैं तो पता नहीं हमें सफलता मिलेगी या नहीं। जब जंगली सूअर आँख मूँदकर आक्रमण करता है तब उसे सदुपदेशोंसे शान्त किया जा सकता है या नहीं? शायद किया जा सकता हो, शायद न किया जा सकता हो।

मुझे एक मन्त्र-विशेषज्ञकी बात मालूम है। वे मन्त्रबलसे सूअर क्या, बाघको भी बाँध सकनेका दावा करते थे। परन्तु एक बार जब सचमुच ही सूअरके आक्रमणके शिकार हुए तब मन्त्रपर उनका विश्वास नहीं हुआ, हाथकी लाठीका ही सहारा लेना पड़ा। साधारणसे कुछ ऊँचे पहुँचा हुआ आदमी भी भौतिक शक्तियोंका कायल होता है। बहुत ऊँचे जो पहुँच सके हैं उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। महात्मा गाँधीके इस देशमें भी सचाई यही है।

बड़ी कठिन समस्या है। झूठी बातोंको सुनकर चुप हो रहना ही भले आदमीकी चाल है। परन्तु इस स्वार्थ और लिप्साके जगत्में जिन लोगोंने करोड़ोंके जीवन-मरणका भार कन्धेपर लिया है वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जरा-सी गफलत हुई कि सारे संसारमें आपके विरुद्ध जहरीला वातावारण तैयार हो जायगा। आधुनिक युगका यह एक बड़ा भारी अभिशाप है कि गलत बातें बड़ी तेजीसे फैल जाती हैं। समाचारोंके शीघ्र आदान-प्रदानके साधन इस युगमें बड़े प्रबल हैं और धैर्य और शान्तिसे मनुष्यकी भलाईके सोचनेके साधन अब भी बहुत दुर्बल हैं। सो, जहाँ हमें चुप होना चाहिए वहाँ चुप रह सकना खतरनाक हो गया है। हमारा सारा साहित्य नीति और सचाईका साहित्य है। भारतवर्षकी आत्मा कभी दंगा-फसाद और टंटेको पसन्द नहीं करती परन्तु इतनी तेजीसे कूटनीति और मिथ्याका चक्र चलाया जा रहा है कि हम चुप बैठ नहीं सकते। अगर लाखों करोड़ोंको हत्यासे बचना है तो हमें टंटेमें पड़ना ही होगा। हम किसीको मारना नहीं चाहते पर कोई हमपर अन्यायसे टूट पड़े तो हमें जरूर कुछ करना पड़ेगा। हमारे अन्दर जो हया है और अन्याय करके पछतानेकी जो आदत है उसे कोई हमारी दुर्बलता समझे और हमें सारी दुनियाके सामने बदनाम करे यह हमसे नहीं सहा जायगा। सहा जाना भी नहीं चाहिए। सो, हालत यह है कि हम सचाई और भद्रतापर दृढ़ रहते हैं और ओछे वाद-विवाद और गंदे गंदे फसादोंमें नहीं पड़ते तो

हमारे विरुद्ध संसार भरमें जहरीला वातावरण तैयार किया जाता है, और उनमें उतर पड़ते हैं तो हजारों वर्षोंके संस्कार बाधा देते हैं। इधर बढ़ते हैं तो उधर खिंचना पड़ता है, उधर बढ़ते हैं तो इधर खिंचना पड़ता है। राजनीति कोई अजपा-जाप तो है नहीं। यह स्वार्थोंका संघर्ष है। करोड़ों मनुष्योंकी इज्जत और जीवन-मरणका भार जिन्होंने उठाया है वे समाधि नहीं लगा सकते। उन्हें स्वार्थोंके संघर्षमें पड़ना ही पड़ेगा। और फिर भी हमें स्वार्थी नहीं बनना है।

हो कैसे ? होना तो पड़ेगा ही इसे। हमने जब करोड़ोंके जीवनकी रक्षाका भार लिया है तब हम उनपर आँच नहीं आने देंगे, चाहे जो हो जाय। हमने जब करोड़ों दूर देशके दलित अधिवासियोंके हृदयमें आशाकी ज्योति जगायी है तब हम उन्हें निराश नहीं होने देंगे। हमने जब करोड़ोंको विपत्ति और दासतासे उबारनेका वचन दिया है तब हम वचन पालन अवश्य करेंगे—चाहे जितना भी कष्ट झेलना पड़े। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु वचन न जाई।' यही हमारी महनीय परम्पराका निचोड़ है। हम न अन्याय करेंगे, न होने देंगे। हमने विश्व-दरबारमें अपना महत्त्वपूर्ण आसन ग्रहण किया है। न हम चुप रह सकते हैं, न गलतबयानी कर सकते हैं। मनु भगवानने दोनोंको पाप कहा है—अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी।' सो किल्विषी—पाप भाजन—तो हम नहीं होंगे। हमें स्वार्थ और परमार्थमें सामञ्जस्य तो खोजना ही पड़ेगा।

हमें महान् संयोग मिला है। हमारे पूज्य नेताने दिखा-दिया है कि बड़ेसे बड़े सत्यका व्यवहारसे कोई विरोध नहीं है। निष्क्रिय रहकर सत्यकी बातें बघारना आसान है। कार्य-क्षेत्रमें—स्वार्थोंकी संघर्षस्थलीमें महान् आदर्शोंकी रक्षा करना कठिन काम है। और हमें वही करना है।

महाकाल असीम हैं, उनका नृत्य भी निर्बन्ध है। पर यह जगत् ससीम है। इसी सीमाओंसे घिरे सम्पूर्ण विश्वमें महाकालको नृत्य करना

पड़ रहा है। प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्तने उस अद्‌भुत नृत्यकी एक कल्पना की थी। अगर उद्दण्ड ताण्डवके आवेशमें वे एक क्षणके लिए भी सन्तुलन खो देते हैं तो कहीं धरती धसक जाती है, कहीं दिङ्मण्डल लड़खड़ा उठता है और अगर एक निमेषके लिए भी लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर कर देते हैं तो आगकी चिनगारियोंसे दिगन्त चिनचिना उठता है। आधार छोटा हो तो अबाध नृत्य चलेगा कैसे? तो, महाकाल इसलिए आधारको दृष्टिमें रखकर कभी भुजाओंको समेटते हैं तो कभी पैरोंको सँभाल लेते हैं—अद्‌भुत है यह कुण्ठ नृत्य। परन्तु यदि एक क्षणके लिए यह कुण्ठ नृत्य रुक जाय तो संसार अचल हो जाय, बाधाओं तथा विघ्नोंके स्वरूप उसकी राह रोक लें। महाकालको अपना यह ताण्डव चलाते ही रहना होगा। राजनीतिमें महान आदर्शोंका पालन इस 'कुण्ठ नृत्य' केसमान ही है। हम केवल आशा कर सकते हैं कि इतिहास-विधाता हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। महाकालका कुण्ठ नृत्य ही हमें शरण देगा, वही हमारी रक्षा करेगा। हमें अपने आदर्शोंसे कभी भी च्युत नहीं होना चाहिए। घृणा और द्वेष हमारा रास्ता नहीं है, अन्याय करना या किये अन्यायको बर्दाश्त करना हमारा स्वभाव नहीं है। हम दुर्बलकी रक्षा करेंगे और अत्याचारीका विरोध करेंगे। इस महान् आदर्शके लिए हमें जूझना पड़ेगा, चोट सहनी पड़ेगी, लेकिन हम रुकेंगे नहीं। महाकाल नहीं रुकते। वे ही हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हम इतिहास-निर्माण करने चले हैं। महान् परम्पराके जनक हैं! महान् भारतवर्ष, रुको मत! ठिठको मत! सत्य और न्यायपर दृढ़ रहो; भगवान् महाकालका कुण्ठ नृत्य अवश्य तुम्हें सत्यके आसनपर सुरक्षित रखेगा—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवनतेरक्षतः स्वैरपातैः-
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वः कुण्ठनृत्तम्।

महात्माके महाप्रयाणके बाद

महात्माजीको एक पढ़े-लिखे हिन्दू युवकने गोली मार दी—यह समाचार कुछ ऐसा विचित्र और अप्रत्याशित था कि शायद ही किसीने सुनते ही विश्वास कर लिया हो। मुझे भी शुरूमें विश्वास नहीं हुआ, परन्तु बहुत शीघ्र इसकी सचाईका प्रमाण मिल गया। महात्माजीको सचमुच ही किसीने गोली मार दी थी, सचमुच ही वे सदाके लिए हमें छोड़कर चले गये थे, सचमुच ही पशुताने मनुष्यताके अमर पौधेको चर डाला था, सचमुच ही भारतवर्षका भविष्य कुछ समयके लिए अन्धकारसे आच्छन्न हो गया था, सचमुच ही हिन्दू धर्मके सिरपर वह कलंक लग गया था जो उसके हजारों वर्षके इतिहासमें अपरिचित था। महात्माजी सचमुच मार डाले गये। उस दिन और उसके दूसरे दिन भी हमलोग देरतक रेडियो सुनते रहे। इस घृणित हत्याने संसारको बुरी तरह आलोड़ित कर डाला। हम रेडियोपर महात्माजीके प्रति प्रदत्त 'श्रद्धाञ्जलि' अर्थात् गुणगान सुनते रहे। बोलनेवालोंमें किसीकी वाणी रुद्ध हो जाती थी, किसीकी तेज, किसीके स्वरमें शोकका वेग प्रबल होता था, किसीकेमें क्रोधका—हम सुन रहे थे। न जाने क्यों सुनना उस दिन अच्छा लग रहा था। मन मानो अपनेको कहीं उलझा रखना चाहता था। मानों अपनेको भुलानेके लिए ही हम दूसरोंकी बातोंमें उलझे हों। बड़ी देरतक यही अवस्था रही—'आँखिनमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।"

फिर आपसमें चर्चा होने लगी। समाचारपत्रोंके लम्बे-लम्बे पृष्ठोंपर यह काली कहानी छपी और श्रद्धाञ्जलिका ताँता चलता रहा। किसी किसीकी श्रद्धाञ्जलिका स्वर दबा हुआ पाया गया, लोग नाराज हो गये,

किसी किसीने भावावेषशमें बहुत कुछ कह डाला, लोग कुछ प्रसन्न हो गये। यह सिलसिला भी कुछ दिन चलता रहा। फिर देशव्यापी धर-पकड़ शुरू हुई। किसीको ठीक पता नहीं था कि षडयंत्रका क्या और कैसा रूप है, पर सब समझते थे कि है वह बहुत व्यापक। किसीने इस दलको डाँटा, किसीने उस दलको। शोक, क्रोध और घृणा एकके बाद एक आती रही और जाती रही। आज भी मन मुक्त नहीं हुआ है। महात्माजीको खोकर हमने सचमुच क्या खो दिया है यह आज भी ठीक ठीक समझमें नहीं आ रहा है। इतना भी निश्चित है कि हम अनाथ हो गये हैं। हम संसारकी दृष्टिमें गिर गये हैं। और कहीं भी सहारा नहीं खोज पा रहे हैं। निरपेक्ष और अनाविल दृष्टिसे देखनेकी स्थितिमें हम आज भी नहीं हैं। कब होंगे, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है।

२

एक व्यक्ति कितना महान् और कितना व्यापक प्रभावशाली हो सकता है! महात्माजी भारतीय जनताकी समस्त आशा-आकांक्षाओंके साक्षात् विग्रह थे। मैं केवल हैरान होकर सोचता हूँ कि क्या बात ऐसी रही जिसने इस शीर्णकाय मनुष्यको इतना श्रद्धेय, इतना महिमाशाली और इतना प्रिय बना दिया था। महात्माजीके प्रति प्रकट की गयी श्रद्धाञ्जलियोंका विश्लेषण करता हूँ तो मेरा आश्चर्य ही बढ़ता है। लोगोंने उनके जीवनके अनेक गुणोंकी यादमें आँसू बहाये हैं। उनका अपूर्व त्याग, उनकी अद्भुत सत्यनिष्ठा,, उनका असाधारण विवेक, उनकी अपार प्रेम-धारा, उनकी अनन्य भक्ति—सबकी ओर लोगोंका ध्यान गया है। शोक भी कैसा पावक-धर्म है। जिन लोगोंके मुँहसे हम कभी प्रेम और सत्यकी बात सुननेकी आशा नहीं कर रहे थे, वे भी द्विधाहीन कण्ठसे इनकी महिमा घोषित कर रहे हैं। जिन कूटनीतिविशारदोंके मुखसे कभी उच्छ्गम और आवेगका एक भी शब्द नहीं सुना गया, उन्होंने भी अपना मौन भंग किया है। किसी किसीके गलेमें निश्चित रूपसे आवेगपिच्छिल भाषा सुनी

गयी है। महात्माने जीकर जो आश्चर्य दिखाया था, मरकर उसके कई गुना आश्चर्य दिखाया! यह सब कैसे सम्भव हुआ? क्या सचमुच आध्यात्मिक शक्तिकी विजय हुई है?

एक बात निश्चित है। संसारमें सद्गुणोंके समझदार अब भी हैं। लोग सत्य और अहिंसाको आज भी बड़ी चीज मानते हैं, आज भी प्रेम और भक्तिको लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, आज भी लोग अन्यायके प्रतिवाद करनेवालेको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं, आज भी विवेक और निष्ठाको वही सम्मान प्राप्त है जो श्रीकृष्ण, बुद्ध या विक्रमादित्यके युगमें प्राप्त था। यह आशाजनक समाचार है कि संसारके प्रत्येक देशमें लोग उन समस्त आचरणोंको बड़ा समझते हैं, जिन्हें प्रत्येक युगके महापुरुष बड़ा कहते आये हैं। मनुष्यता आज भी आसुरी वृत्तिसे श्रेष्ठ मानी जाती है। आशा की जानी चाहिए कि एक ऐसा समय आयेगा जब समस्त संसार हिंसा, घृणा और छीनाझपटीके विषाक्त वातावरणसे मुक्त होगा; यदि शब्दोंका कुछ अर्थ होता है तो महात्माजीके निधनके अवसरपर प्रकट किये गये शोकोद्गारोंसे आशा और विश्वासका ही संचार होता है।

३

जो बात मामूली बुद्धिवाले मनुष्यकी समझमें नहीं आती, वह यह है कि तप और त्यागकी महिमा यदि सबको मालूम है तो क्यों नहीं लोग उन्हें अपनाते? यदि सचमुच ही लोग अहिंसाको बड़ी वस्तु मानते हैं तो क्या कारण है कि महात्माजीके प्रति शोक प्रकट करनेके साथ ही साथ तलवारको सानपर चढ़ाते जा रहे हैं? लोग यदि बराबरी और भाई-चारेके लिए मर मिटनेवालेकी प्रशंसा करते हैं, तो क्यों नहीं साम्राज्य और शोषणके मोहको छोड़ देते?

मैं बराबर इस रास्ते सोचता रहा हूँ। संसारमें उन गुणोंके प्रति पर्याप्त श्रद्धा है जिनके प्रचारके लिए महात्माजी जिये और मरे; तो फिर......

एक बार जी क्षुब्ध हो जाता है। कूटनीतिज्ञोंके मुँहसे सत्यको

प्रशंसा सुनकर मनमें ग्लानि होती है, सेनापतियोंके मुँहसे अहिंसाकी स्तुति सुनता हूँ, तो क्रोध होता है; सेठों और सामन्तोंके मुँहसे त्याग और तपकी चर्चा सुनता हूँ तो झुँझलाहट पैदा होती है; और साम्राज्यवादियोंके मुँहसे तो गांधीका नाम सुनकर ही घृणा हो आती है। जानता हूँ, गांधीके अनुयायीके मनमें ऐसे विकार नहीं आने चाहिएँ, पर लाचार हूँ। मैं अपनेको सब समय रोक नहीं पाता। यद्यपि मुझसे अबतक किसीके प्रति कोई अशिष्ट आचरण नहीं हुआ है, लेकिन मनमें इन विकारोंका आना भी क्या कम बुरा है? इन अन्तर्विकारोंका कारण क्या है?

शायद दुनियाभरके लोगोंकी कमजोरीका पता लगानेकी अपेक्षा अपनी कमजोरीका पता लगा लेना ज्यादा विश्वसनीय होता है। केवल निराश होकर सोचता हूँ कि छोटी बुद्धिका इस प्रकार हाथ-पैर मारना कुछ फलप्रसू भी है?

मैंने महात्माजीके अनेक गुणोंको अपने भीतर ले आनेका संकल्प कई बार किया है। संकल्पोंकी सचाईके बारेमें मुझे रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। पर बड़ी जल्दी मैं विचलित हो गया हूँ। मेरे-जैसे और लोग भी दुनियामें होंगे। मैंने अनुभव किया है कि बड़ी बातोंका जीवनमें उतार लेना भी तपःसाध्य है। केवल संकल्पमात्रसे कुछ नहीं होता। कठोर संयम और मानसिक अनुशासनके बिना मनुष्य किसी भी सद्गुणको नहीं अपना सकता। यह संयम और अनुशासन बड़े आयाससे प्राप्त होते हैं। इसके लिए अभ्यासकी जरूरत होती है। आजकलकी भाषामें इसे चरित्र-बल कहने लगे हैं। पुराने लोग इसे 'जितेन्द्रियता' कहते थे; और यद्यपि वे भाषामें कुछ कठोर जान पड़ते हैं, तथापि सचाईतक वे ही पहुँचे थे। महात्माजी उनकी सचाईको अनुभव कर चुके थे। इसलिए वे कभी ऐसी भाषा बोला करते थे जो आधुनिक बुद्धिमें आसानीसे नहीं प्रवेश कर पाती थी।

४

मैंने सन् १९२०-२१ में सुना था कि महात्माजी प्रह्लादके समान भक्त हैं। किसी देहाती भक्तने यह बात मुझे बतायी थी। बहुत दिनों-तक मैं महात्माजीको प्रह्लादका अवतार समझता रहा। बादमें जब बुद्धिको अधिक बहकने और विकसनेका मौका मिला तो अनेक विद्वानों और सहृदयोंके मुखसे विभिन्न ऐतिहासिक पुरुषोंके साथ महात्माजोको तुलना सुनी। किसीने बुद्धसे, किसीने ईसासे और किसी-ने युधिष्ठरसे उनकी तुलना की। एक मेरे कलाकार मित्रका दावा है कि तुलसीदासके पुराने चित्रमें जो चेहरा है वह निश्चित रूपसे महात्माजीके चेहरेसे मिलता है। उन्होंने महात्माजीके चेहरेको रामायत वैष्णवके रूपमें सजाकर तुलसीदासका चित्र बनाया भी है। ऐतिहासिक पुरुषोंके प्रवाहमें मेरा उत्तरकालीन चित्त बह गया और प्रह्लादवाली बात दब गयी। लेकिन महात्माजीकी हत्याके तीन चार दिन बाद वह बात मेरे मनमें फिरसे उदित हो आयी। वर्षों की भूली बात झमसे मानस रंगमचपर क्यों आ गयी यह एक रहस्य ही है। शायद मानस-शास्त्रमें इसका कोई कारण बताया गया होगा। कारण जो भी हो, प्रह्लादकी कथा मुझे स्मरण हो आयी। भागवत निकालकर मैंने नृसिंहस्तुति पाठ की। पिछले कई दिनोंमें इस महान् स्तोत्रको मैंने कई बार पढ़ा है। शास्त्रकारने कितने शास्त्र-मंथनके बाद यह नवनीत निकाला है! इसमें एक स्थानपर प्रह्लादने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है कि हे परम पुरुष, मौन, व्रत, शास्त्रचर्या, जप-तप समाधि आदि बातें प्रायः ही उन लोगोंके लिए सिर्फ जीविका चलानेकी साधन मात्र रह जाती हैं जिन्होंने (अभ्यास और वैराग्यके द्वारा) अपने इन्द्रियगणको वशमें नहीं कर लिया है। जबतक मनुष्य अपने इन्द्रियोंको नहीं जीत लेता उसमें दृढ़ चरित्रबलका विकास नहीं हो जाता—जबतक वह इन बातोंको अपने जीवनमें नहीं ग्रहण कर पाता। असंयमी मनुष्य इनका महत्त्व न समझते हों, सो बात नहीं है, पर उनके लिए यह महत्त्व

केवल बात बनाकर जीविका चलानेका साधन रह जाती है। जो लोग दाम्भिक होते हैं वे तो यह भी नहीं कर पाते !—

मौन-व्रत श्रुत-तपोऽध्ययन-स्वधर्म-
व्याख्या-रहो-जप-समाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष तेत्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत नवात्र तु दाम्भिकानाम्॥

प्रह्लादके इस एक कथनसे उनका सम्पूर्ण जीवन समझमें आ जाता है और साथ ही उन हजारों दुर्बल चरित्र व्यक्तियोंका ढुलमुल जीवन भी समझमें आ जाता है, जो भली बातोंकी महिमा समझते हुए भी उन्हें जीवनमें ग्रहण नहीं कर पाते। महात्माजीने अपना सम्पूर्ण जीवनसे इस बातको दिखा दिया है कि सत्य तब जाकर वास्तव और परिपूर्ण होता है, जब उसे जीवनमें स्थान मिल जाय। और सत्यको जीवनमें ग्रहण करनेकी योग्यता बड़े कठोर धैर्य और दीर्घ तपसे प्राप्त होती है। जिसमें वह धैर्य नहीं है और वह तप नहीं है, उसके लिए मनुष्यके समस्त सद्गुण केवल बातकी बात रह जाते हैं, वे इसे जीविका उपार्जनका साधन बना लेते हैं। जबतक नाना विषय विकारोंकी ओर खींचनेवाले इन्द्रिय वशमें नहीं आ जाते, तबतक बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती। उससे देखा हुआ तथ्य मलिन और अविश्वसनीय होता है, महात्माजीके अत्यन्त प्रिय गीताके श्लोकोंमें यही बात कही गयी है—"वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।"

५

यह ठीक है कि संयम और जितेन्द्रियता बड़े भारी गुण हैं, पर ऐसा लगता है कि यह भी बाह्य वस्तु हैं। यह जो इन्द्रियदमन है, मनोविकारोंको रोकनेका अभ्यास है, यह भी अभावात्मक वस्तु है। केवल इतनेसे आदमी वह शक्तिपुञ्ज नहीं बन सकता जो महात्माजी थे। मुझे बहुत बार ऐसा लगा है कि कोई भीतरी महान् वस्तु ऐसी अवश्य है जिसके होनेसे मनुष्यको जितेन्द्रियता प्राप्त होती है या प्राप्त करनेकी इच्छा

होती है। मनुष्यके भीतर वह कौन-सा बड़ा रहस्यपुञ्ज है, जो अपने घातक व्यक्तिपर भी प्रेम बरसा देता है? क्या है वह अद्भुत पदार्थ जो समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीके रूपमें प्रकाशित होता है?

पिछले सत्ताईस वर्षोंसे मैं महात्माजीकी बातें सुनता आ रहा हूँ और उनके किये कार्योंको देखता आ रहा हूँ। कई बातोंमें उनके आदर्शोंपर चलनेका प्रयत्न मैंने किया है। अधिकांशमें मेरे प्रयत्न असफल हुए हैं। कई बार मुझे ऐसा लगा है कि महात्माजी जो कह रहे हैं वह ठीक नहीं है, वह सत्यका एक ही पहलू है। पर विश्वासपूर्वक मैं उनके वक्तव्योंका कभी प्रतिवाद नहीं कर सका हूँ। केवल एक बार मैंने उनके भाषा सम्बन्धी विचारोंपर अपना मत प्रकट करनेका साहस किया था, उन्होंने धैर्यसे उसे सुना और मेरी युक्तियोंको चुप-चाप अस्वीकार कर दिया! अर्थात् जिस प्रकार मैं उनका अनुगमन करनेमें असफल रहा हूँ उसी प्रकार उनका विरोध करनेमें भी! मैं नियमित रूपसे चरखा नहीं चला सका, उसकी सम्पूर्ण उपयोगिता भी नहीं समझ सका। मैं सत्यवादी नहीं बन सका। प्राणिमात्रके प्रति मानसिक मैत्रीका आदर्श-पालन मैंने करनेका प्रयत्न किया, लेकिन व्यवहारमें कई बार विपरीत कर्म करना पड़ा। मेरे मनकी यह सबसे बड़ी वासना रही है कि मैं भगवद्भक्त बन सकूँ पर मैं धर्मको समस्त जीवनका एकमात्र आधार नहीं बना पाया। मेरा पक्का विश्वास हो गया है कि मेरा जीवन अवञ्चक धार्मिकका जीवन नहीं हो सकेगा। धार्मिक होनेपर मैं वञ्चक बन जाऊँगा और अवञ्चक रहनेपर मैं धार्मिक नहीं बन सकूँगा। मैं अपनी बात कह रहा हूँ। इस कथनका यह अर्थ एकदम नहीं है कि दुनियामें कोई भी अवञ्चक धार्मिक हो ही नहीं सकता, हो सकता है, पर वह उस धातुका बना नहीं होगा जिसका मैं बना हूँ। महात्माजीके प्रति मेरे मनमें इतनी श्रद्धा रही है जितनी किसीके मनमें अपने उपास्य देवताकी होती है, परन्तु एक दिन मुझे उनकी ही बात सोचते सोचते ऐसा मालूम हुआ कि मुझे इस बातके लिए

एकदम दुखी नहीं होना चाहिए कि मैं महात्माजीका अनुसरण नहीं कर पा रहा हूँ ! मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं इस संसारमें निरर्थक उद्देश्य-हीन वस्तु नहीं हूँ । महात्माजीने स्वयं कहा था कि भगवान्‌को जो कुछ उनसे कराना है उसे वे कराकर ही रहेंगे । जबतक भगवान्‌का वह चिन्तित उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता, तबतक मुझको कोई मार नहीं सकता । मुझे ऐसा लगा कि महात्माजीका इस पृथ्वीपर उतरना जिस प्रकार बड़े उद्देश्यका एक साधनमात्र है वैसा ही प्रत्येक मनुष्यका है । मुझे इस विचारसे सन्तोष मिला । मैं जो भी सचाईके साथ कर रहा हूँ वह सार्थक है, जो कुछ मैं वञ्चनाके लिए करता हूँ वह निरर्थक है और असफल होनेको बाध्य है । शास्त्रकारकी भाषामें कहा जाय तो 'सत्यमेव जयते नानृतम् ।' अनृत स्वयं परास्त हो जाता है । मेरी बुद्धि और तर्क-शक्तिको इस विचारसे विराम नहीं मिलता, पर कोई एक ऐसा आन्तर्धर्म अवश्य है जो इससे सन्तोष पाता है । कितनी ही बार मुझे ऐसा लगा है कि वह आन्तर्धर्म—उसे आत्मा कहिये या जो कुछ भी कहिये—बहुत शक्तिशाली जीवनोपादान है । उसके सन्तुष्ट होनेसे मनुष्य बड़ी आसानीसे विरोधों और उपहासोंकी उपेक्षा कर सकता है । कई बार जब मैं उसे ठीक ठीक पकड़ सका हूँ मेरे अन्दर अपार साहस आया है । मैं क्षण-भरके लिए कभी उसका साक्षात्कार पा जाता हूँ और उसपरसे मेरा विश्वास हो गया है कि वह विशाल शक्तिपुञ्ज मेरे भीतर है । जब जब मैंने महात्माजीको विरोधों और उपहासोंकी उपेक्षा करके अपने मतपर स्थिर रहते देखा है, तब तब सोचमें पड़ जाता रहा हूँ । आखिरी दिनोंमें मैं समझने लगा था कि महात्माजी नित्य उस महान् शक्तिपुञ्जको पकड़े रह सकते हैं और इसलिए इतने महान् और तेजस्वी बने रहते हैं ।

मैं जब उस अपार साहस और अद्भुत दृढ़ताकी बात एकान्तमें बैठकर सोचता हूँ तो रोमाञ्च हो आता है । कभी कभी मनमें यह भी तरंगित हो उठता है कि हमलोग उनके सामने इतने छोटे हैं जैसे हाथीके

सामने चींटी। हमें अपनी सीमापर रुक जाना चाहिए। पर शीघ्र ही उनके पवित्र तेजका प्रभाव पड़ता है, लगता है, छोटेकी भी सार्थकता है। अपनी शक्तिभर इतिहास विधाताकी योजनामें अपने आपको खपा देना ही क्या कम है? गुरुदेवने अपनी मौजमें मनुष्यकी छोटी हस्तीको सार्थक करनेका जो मनोहर गान गाया है, वह महात्माजीके कर्ममय वीरताकी झंकारके समान ही है। रवीन्द्रनाथने मानो इस कर्मयोगीके सन्देशको ही अपनी शक्तिशाली भाषामें गूँथा है—

एक मने तोर एकताराते एकटि ये तार सेइटि बाजा—
फुलबने तोर एकटि कुसुम ताइ निये तोर डालि साजा।
येखाने तोर सीमा, सेथाय आनन्दे तुइ थामिस एसे,
ये-कड़ि तोर प्रभुर देओया सेइ कड़ि तुइ निस रे हेसे।
लोकेर कथा निसने काने, फिरिसने आर हाजार टाने,
येन रे तोर हृदय जाने, हृदये तोर आछेन राजा।
एकताराते एकटि ये तार आपन मने सेइटि बाजा॥

छाया

[तेरे एकतारेमें जो एक-मात्र तार है उसे ही एक मनसे बजाता रह—
तेरी फुलवारीमें जो एक फूल है उसीसे अपनी डलिया सजा ले;
जहाँ तेरी सीमा है वहीं आकर आनन्दपूर्वक रुक जा;
तेरे प्रभुने तुझे जो कौड़ी दी है उसीको तू हँसता हुआ ले ले।
लोगोंकी बातपर कान न दे, हजारों आकर्षणोंसे खिंचा हुआ मारा मारा न फिर;
ऐसा हो कि तेरा हृदय जानता रहे कि तेरे हृदयमें ही तेरे राजा (वर्तमान) हैं—
एकतारेमें जो एक-मात्र तार है उसे ही अपनी मौजमें बजाता रह।]

६

कहाँ जानता है यह हृदय कि उसके हृदयेश्वर हृदयमें ही हैं!

जानता तो इतना सन्ताप और इतनी पीड़ा उसे अनुभूत नहीं होती। शास्त्रने कहा है 'य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति'—जो उसे जानता है वह मृत्युसे अतीत हो जाता है। हमारी आँखोंके सामने 'उसे' जाननेवाला महापुरुष कलतक वर्तमान था। वह निःसन्देह 'अमृत' हो गया है। आज भारतवर्षके कोटि कोटि मनुष्य धन्य हैं, जिन्होंने उसकी वाणी सुनी है, जिन्होंने उसके आदेश पालन करनेका यत्न किया है, जिन्होंने उस वीत-रागको अपनी आँखोंसे देखा है। उसका नश्वर शरीर चला गया, पर उसकी दीप्तवाणी अब भी हमारे बीच रह गयी है, वह हमें भविष्यमें भी बल और साहस देती रहेगी।

महात्माजीने अपने 'हृदयेश्वर' को मनुष्यके परिपूर्ण सत्य रूपमें देखा था। मनुष्यका 'सत्य' बड़ा जटिल व्यापार है। निःसन्देह वह समस्त विश्वके मूलमें वर्तमान महासत्य—'ऋत' से भिन्न नहीं है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि कभी बड़े बड़े भगवद्भक्तोंने भी इस जटिल व्यापारको उपेक्षणीय और त्याज्य समझा है। मनुष्य समाजमें इतनी जटिलताएँ हैं कि अधकचरा आदमी केवल हाय-हाय करके रह जाता है। जो सत्य समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका अमर उत्स है, जिसके आधारपर यह सम्पूर्ण सत्ता है, उस अमृत-योनि ऋतके साथ साधारण मनुष्यकी राजनीति, अर्थनीति न्याय और शासनकी व्यवस्थाका सामञ्जस्य खोज निकालना दुष्कर व्यापार माना जाता है। प्रायः ही इन्हें मायामूलक, जड़धर्मी या बाह्यविकार मानकर शाश्वत सत्यसे इनका विरोध दिखाया जाता है। सारे संसारमें इन विषयोंको बड़े सत्यसे भिन्न समझा गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि संसारके और किसीने बड़े सत्यके साथ—'अमृतयोनि ऋत' के साथ—इन मानवीय स्वार्थोंके जटिल जालका सामञ्जस्य ढूँढ़ा ही नहीं। संसार विपुल है, काल अनन्त है, सब हमें मालूम ही कहाँ है ? पर महात्माजीने केवल वाणीसे नहीं, अपने सम्पूर्ण जीवनसे यह दिखा दिया है कि मनुष्यके छोटे स्वार्थोंका द्वन्द्व बड़े सत्यका विरोधी नहीं है।

इन छोटे स्वार्थोंको व्याप्त करके, इनको अपना अंग बनाकर ही हृदय-स्थित महासत्य विराज रहा है। इनके भीतरसे वह सेतु तैयार किया जा सकता है जो मनुष्यको मनुष्यसे विच्छिन्न होनेसे बचाये। छोटे स्वार्थ निश्चय ही मनुष्यको भिन्न भिन्न दलोंमें टुकड़े टुकड़े कर रहे हैं, परन्तु यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा महासेतु निर्माण कर सकता है, जिससे समस्त विच्छिन्नताका अन्तराल भर जाय। महात्माजीने उस महान् सेतुके निर्माता सत्यको देखा था और धर्म, अर्थ और व्यवहारको एक करनेमें सफलता प्राप्त की थी। यद्यपि वे अब मर्त्य कायामें नहीं रहे पर उनकी मृत्युके अवसरपर विरोधी समझे जानेवाले विभिन्न दलोंके हृदयमें जो आलोड़न हुआ है, उससे आशा होता है कि विच्छिन्नताएँ दूर होंगी और 'अमृतयोनि' महासत्यके द्वारा छोटी समझी जानेवाली संकीर्णता और सीमाओंके बीच सेतुका निर्माण सम्भव होगा। शास्त्रने जिस बातकी घोषणा आजसे सैकड़ों वर्ष पहले की थी महात्माजीने अपने जीवनसे उनकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है। ऐसा होता कि यह हिंसासे क्लान्त और संकीर्णताओंसे उद्भ्रान्त जगत् उस महान सेतुके निर्माताको हृदयमें देख सकता!—

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना—
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः॥

ठाकुरजीकी बटोर

[इस गाँवमें हिन्दुओंके सौ घर हैं, मुसलमानोंके पन्द्रह । धनी-मानी हिन्दू ही हैं, गरीब कहाने योग्य मुसलमान ही । फिर भी गाँवके ठाकुर-बारी और मस्जिदमें बड़ा अन्तर है। मस्जिद जगमगायी रहती है, ठाकुरबारी-में भूत रेंगते रहते हैं । मैं मस्जिदको भी खुदाका 'अपना' घर नहीं मानता और ठाकुर-बारीको भी ठाकुरजीका एकमात्र मन्दिर नहीं समझता । इस बार तीन वर्षपर घर लौटा तो मालूम हुआ, एक साधु ठाकुरजीकी पूजा सालभरसे कर रहे हैं, पर दोनों शाम भोजन कर सकनेभरका अन्न उन्हें नहीं मिल पाता । एक दिन जब मेरे एक ग्रेजुएट मित्र साधुको साथ लेकर मेरे पास आये और ठाकुरबारीकी दुरवस्थाका सजीव वर्णन किया तो मैं उनकी प्रस्तावित सभामें, जहाँ ठाकुरजीके राग-भोगकी व्यवस्था करनेका विचार होनेवाला था, उपस्थित रहने और यथासम्भव सहायता देनेके लिए प्रतिज्ञा-बद्ध हो गया । स्थानीय भाषामें इसी प्रस्तावित सभाका नाम रखा गया 'ठाकुरजीकी बटोर ।]

तीन बार घण्टा-ध्वनिके साथ विज्ञापन करने और अनेक सज्जनोंको अनेक बार व्यक्तिगत रूपसे अनुरोध करनेपर भी जब सभा-स्थलपर कुछ बच्चोंके सिवा और कोई नहीं आया तो मैं कुछ उद्विग्न हो आया । मैं सोचने लगा, लोग ठाकुरजीके प्रति इतने उदासीन क्यों हैं ? हिन्दुओंमें धर्म-भावना क्या लुप्त हो गयी है ! मैंने कल्पनाके नेत्रोंसे देखा कि जिस देवताके मन्दिरके सामने बैठा हुआ हूँ उसकी छत्रछाया तीन हजार वर्षोंसे कोटि-कोटि नर-नारियोंको शान्ति दान कर रही है । सिन्धुउपत्यका-मेंके किसी अर्ध देवत्व-प्राप्त अनार्य वीरने या उत्तरी प्रान्तोंके उपास्य किसी बाल-देवताने युग-प्रतिष्ठित भागवत धर्ममें परम दैवतका स्थान प्राप्त

किया। तबसे सैकड़ों बर्बर अनार्य जातियाँ उसके पावन नामसे उसी प्रकार हत-दर्प होकर शान्त जीवन बिताने लगीं जिस प्रकार मंत्रौषधिके प्रयोगसे उपगत-ज्वर महासर्प। मैंने मानो स्पष्ट ही देखा भारतवर्षके उत्तरी-पश्चिमी किनारेसे चींटियोंकी तरह सेनाएँ घुस रही हैं, लूट-पाट, नोच-खसोट, मार-पीट, कुछ भी उसके लिए असम्भव नहीं है। किसी सैन्यदलके रक्त-कलुष हाथोंमें तीक्ष्ण फलक कुन्त है, किसीके खर-धार तलवार। देखते-देखते समृद्धिशाली नगर जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं, बच्चे माताओंकी गोदीसे छीनकर पटक दिये जाते हैं, तरुणियोंका दल ढोरोंकी भाँति हाँककर ले जाया जा रहा है,—सारा उत्तरी भारत क्षणभरके लिए श्मशानकी तरह हो जाता है। फिर मैंने देखा, यही जातियाँ यहीं बस जाती हैं और पचास वर्ष बाद अपने सिक्कोंपर अपनेको परम भागवत कहनेमें गर्व अनुभव करती हैं! इतना शीघ्र इतना विकट परिवर्तन! सचमुच उस देवताके सामर्थ्यका अन्दाजा लगाना मुश्किल है, जिसने एक नहीं, दो नहीं, वंशियों आर्येतर बर्बर जातियोंको आचार-निष्ठ, शान्त भक्त बना दिया! भागवतका श्लोक मन ही मन गुनगुनाते हुए मैंने उस महावीर्य देवताको मन ही मन प्रणाम किया—

"किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा-
आभीर-कंकाः यवनाः खसादयः;
येऽन्येऽपि पापास्तदपाश्रयाश्रयात्
शुद्ध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।

मैं सोचता ही गया--आज हम बौद्ध संस्कृतिकी सम्पूर्ण जानकारीके लिए तिब्बत, चीन, जापान, श्याम आदि देशोंकी ओर टकटकी बाँधे हैं, एक दिन ऐसा भी था जबकि पश्चिमी प्रान्तोंमें--गांधार, पारस्य, शकस्थान, --इसी महावीर्य देवताके नाम और महिमाका कीर्तन होता था, भावावेशमें लोग दरविगलित नेत्रोंसे महाविष्णुका स्मरण करते थे—वह दिन आज बीत गया है। पश्चिममें एक स्वतः सम्बुद्ध धर्म-भावनाका अवतार

हुआ जिसके एक हाथमें दृढ़-मुष्टि कठोर कृपाण थी, और दूसरेमें समानताके आश्वासनका अमृत वरदान। उसका प्राण देवता अन्तर्मुख था पर वह अपनी परिधिपर अक्लान्त भावसे चक्कर मार रहा था। उसने किसीसे समझौता नहीं किया, किसीको मित्र नहीं माना, जो सामने आया उसीको ललकारा, जिधर लपका उधर ही काल-चक्र घूम पड़ा! वह इसलाम था। इसी इसलामने पश्चिममें इस महावीर्य देवताको उखाड़ फेंका। विजय-गर्वसे स्फीत-वक्ष इसलाम निर्भीक भावसे आगे बढ़ता गया, जिसने उसे आत्म-समर्पण किया वही उसके रंगमें रँग गया, अरबसे लेकर गांधारतक एक ही विजय ध्वजा बार-बार प्रकम्पित होकर धरित्रीका हृदय कम्पित करने लगी। आज हम उस कुचली हुई संस्कृतिके लिए इन देशोंकी ओर ताकनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं समझते।

हाँ, जिस मन्दिरके सामने बैठा हुआ मैं उसके उपासकोंकी प्रतीक्षामें समय बिता रहा हूँ वह उसी महावीर्य किन्तु पराजित देवताका प्रतीक है। उसके उपासक एकाधिक बार कुचले गये हैं, लूटे गये हैं, नोचे गये हैं, और तंग किये गये हैं। वे थके हुए, निर्वीर्य, निष्पेषित उपासक हैं। उपासकके तेजसे ही उपास्य तेजस्वी होता है। देवताका यह प्रतीक भी तेजोहीन, वीर्यहीन और निष्प्राण है।

इसी समय मैंने देखा, हमारी आशा-लताको लहलहाते हुए तीन वृद्ध हिन्दू सभास्थलमें उपस्थित हुए। उन्होंने माथेकी पगड़ी उतारी और अपना अनाडम्बर प्रणिपात ठाकुरजीको निवेदित किया। मन ही मन मैं सोचने लगा, आज भी करोड़ों हिन्दू इसी प्रकार अनाडम्बर भावसे गम्भीर विश्वासके साथ ठाकुरजीको प्रणाम करके शान्ति पाते हैं। कौन कहता है कि वह महावीर्य देवता तेजोहत हो गया है! विजयस्फीत इसलाम उसको कुचल नहीं सकता। आज गांधार मुसलमान हो गया है, उसे इसलामका अमृत वरदान प्राप्त हो गया है। तो क्या हुआ? इसलामके आनेके पहले विद्या और ज्ञानका महापीठ गांधार आज मुसलमान होकर बदल

गया है। पाणिनि और यास्ककी सन्तान आज भारतवर्षमें हींग बेचती फिरती है। इसलामका इससे भयङ्कर पराजय और क्या हो सकता है? वैदिक ऋचाओंके बनानेवाले ऋषियोंकी सन्तानका इससे अधिक पतन क्या हो सकता है? मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि पाणिनि और यास्क, चरक और सुश्रुत, पतञ्जलि और व्यास स्वर्गमें अत्यन्त उदास बैठे हैं। भृकुटियाँ किञ्चित् कुञ्चित हो गयी हैं, विशाल ललाटपर चिन्ताकी रेखाएँ स्पष्ट दिख रही हैं, आँख छलछला आयी हैं—हाय, इसलाम, तुम कब देख सकोगे?

मुझे ऐसा लगा, इसलामने मेरी बात सुन ली है। उसके हाथ तलवारकी मूठपर ठीक ही बैठे हैं, मूर्ति अत्यन्त उग्र है पर क्रूर नहीं। मुझे उस मूर्तिमें वीरताका तेज दिखा, देरतक उसपर आँखें ठहर नहीं सकती। इसलामने शान्त गम्भीरस्वरमें कहा,—तुम ठीक कहते हो, पर तुम्हारे लगाये हुए अभियोगकी मुझे बिलकुल परवा नहीं। मैं संस्कृति फैलाने नहीं आया, मैं कुफ्र तोड़ने आया हूँ। हजारोंको दास बनाकर, लाखोंको दलित और अस्पृश्य बनाकर जिस संस्कृतिका जन्म होता है वहाँ कुफ्रका प्राबल्य होता है। मैं उसे साफ करने आया हूँ। इस असम व्यवस्थाके साथ मेरा समझौता नहीं हो सकता। जिस सैकड़ों कच्चे पक्के रंगके बेमेल पटको तुम कलाका श्रेष्ठ निदर्शन मानते हो, उसे मैं भद्दे दागोंका एक हास्यास्पद प्रदर्शन समझता हूँ; मैं धरतीको एक पक्के रंगमें रँगी देखना चाहता हूँ, भले ही वह रंग नीला हो। आज इसलामकी ध्वजासे धरती काँप रही है, क्योंकि उसमें भीरुता है, उसमें भेद-भाव है, उसमें भ्रान्ति और त्रुटि है। इसलामका विजयतूर्य इस भीरुता, इस भेद-भाव और भ्रान्ति त्रुटिको दूर करके ही चुप होगा। समझौता करना डरपोकोंका काम है, इसलाम डरपोक नहीं है, वह मरना भी जानता है और मारना भी जानता है। संस्कृतिके विनाशकी आशंकासे पद-पदपर संत्रस्त बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग कायर हैं।

मैंने जरा विस्मय और आशंकाके साथ जवाब दिया—संसारको एक रंगमें रँगनेका प्रयत्न क्या मनुष्यताके वैचित्र्य-पूर्ण विकासमें बाधा पहुँचाना नहीं है ? चमेलीको गुलाब बनानेका प्रयत्न या चमेली और गुलाब दोनोंको कुछ एक विचित्र-सा एक-रंगा फूल बनानेका प्रयत्न क्या श्रेयस्कार है ? यह तो स्वयं ही एक भयंकर कुफ्र है। इसलामने गरजकर जवाब दिया—शक्तिहीन ऐसी बातें कहा करते हैं, निर्वीर्य ऐसी बातें सुना करते हैं। तुममें मेरे कथनका सत्य अर्थ ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है, उसे धैर्यके साथ समझ सकनेका साहस नहीं है। उपमाओं और रूपकोंका सहारा लेकर प्रकृत अर्थको विकृत करना दुनियाके बुद्धिमान कहे जानेवाले लोगोंका एक व्यवसाय है। तुमने मेरी सीधी-सी बातका विकृत अर्थ लगाया है। मैं कभी नहीं कहता कि गुलाब और चमेलीको एक कर दिया जाय। मैं कहता हूँ गुलाब और चमेली हों या आम और धतूरे, सबको एक ही समान खुला आसमान, एक ही समान खाद और पानीकी सुविधा, एक ही समान यत्न और उपचार प्राप्त होने चाहिए। इसलामकी उग्र मूर्तिपर जरासा स्मित हास्य दिखायी पड़ा, वह मानों अवहेलनाके साथ बड़ी संस्कृतियोंका मजाक उड़ाना चाहता था। मैंने फिर बुद्धिका आश्रय लेते हुए पूछा—ऐसे भी तो पौधे हो सकते हैं जो गुलाब और चमेलीके अनुकूल खाद पाकर ही मुरझा जायँ ? कुछ पौधे पानीसे बढ़ते हैं, कुछ पानीसे ही मर जाते हैं। उनका क्या उपाय होगा ? इसलामने इस बार कड़ककर जवाब दिया—मर जायँ तो मर जाने दो, मुझे परवा नहीं। जो तीन लोकसे न्यारे हैं, उनका न रहना ही अच्छा है। उनके रहनेसे बाकी दुनियाको कष्ट होगा। और देखो, तुम अधिक तर्क न करो। यह शक्तिहीनका लक्षण है। इस वज्रमुष्टि महाकृपाणको देखो। इसलाम इसपर भी पूर्ण विश्वास करता है। यही भगवानका वरदान है, मनुष्यताका रक्षक है, इसलाम अपने कृपाणपर कभी सन्देह नहीं करता। यह कहकर एक अजब मस्तीके साथ मुसकराता हुआ इसलाम ऊपरकी ओर उठा, मानों वह

जगतकी सारी जड़ता, समस्त अन्धकार, सारे जंजालको विध्वस्त कर सकनेके महाव्रतमें अपने आपके सामने किसो दूसरेको नहीं मानना चाहता, मानों उसकी सफलता निश्चित है, मानों वह अद्वितीय कर्मठ योद्धा है।

(२)

संस्कृति क्या है? मैं जरा उद्विग्न भावसे सोचने लगा। मुझे एक बार याद आये वैदिक युगके कर्मकाण्ड-पटु ऋत्विजोंके दल, जो प्रत्येक कुश और पल्लवके स्थान, पात्र, और विधानके विचारमें गम्भीर भावसे सतर्क थे फिर याद आयी उपनिषत्-कालीन ऋषियोंकी, जो बड़ी गम्भीरताके साथ मौन भावसे चिन्तन कर रहे थे कि क्या होगी वह चीज जिसे पाकर हम अमृत नहीं हो सकते? फिर याद आये काषाय-धारी बौद्ध भिक्षु, जो 'बहु जन हिताय, बहु जन सुखाय' घर-बार छोड़कर, उत्तुंग शैल-शिखर और भीमकाय महासागर लाँघ रहे थे; और अन्तमें याद आयीं, उज्जयिनीके सौध-गवाक्षोंसे लीला-कटाक्ष-क्षेपिणी पौर-विलासिनियाँ। देखते-देखते मेरी कल्पनाने मध्ययुगकी आतङ्क ग्रस्त हिन्दू संस्कृतिको सामने खड़ा कर दिया—निराभूषणा, संकुचिता, अवमानिता, विक्षुब्धा! उसमें कर्मकाण्ड-कालकी सजीवता नहीं थी, उपनिषत्कालको स्वतन्त्र चिन्ता नहीं थी, बौद्ध-कालकी दुर्वार करुणा-भावना नहीं थी, काव्य-कालकी सुखमय विलास-सज्जा नहीं थी। इसलामके आक्रमणसे उसका तेज म्लान हो गया था, दर्प-हत हो गया था पर वह हार माननेको तैयार नहीं थी। वह कुचली हुई वन्य वीरुधकी भाँति म्लान होकर भी सजीव थी, फिरसे पनप उठनेके लिए सचेष्ट थी, निरुपाय होकर वह जिधर सुविधा पाती उसी तरफ आश्रयको लपक पड़ती। इसी समय दक्षिणी आसमानसे कई तेजःपुञ्ज ज्वलन्त ज्योतियाँ उत्तरकी ओर बड़े वेगसे दौड़ती हुई नजर आयीं। दिशाएँ तिमिराच्छन्न थीं, आसमान धूलसे भरा हुआ था, धरित्री रक्तसे तर थी! दक्षिण आकाशसे आयी हुई इन ज्योतियोंने कोई बाधा नहीं मानी, किसीकी परवा न की। वे बढ़ती ही गयीं। अचानक प्रकाशकी

किरणमें स्पष्ट मालूम हुआ, इस कुचली हुई संस्कृति-लताको एक सहारा मिला है। वह सहारा था वैष्णव धर्म—भक्ति मतवाद। इसने इस लताको केवल आश्रय नहीं दिया, रसकी धारासार वर्षासे उसे लहलहा दिया; पत्र और पुष्पकी नूतन समृद्धिसे देखनेवालोंकी आखें निहाल हो गयीं। मैं जिस देवताके मन्दिरके सामने बैठा हुआ हूँ, वह उसी आश्चर्य-जनक भक्ति मतवादका उपाश्रय है। कौन कहता है यह पराजित देवताका प्रतीक है? यह आश्रयोंका खजाना, सच्चा तिलस्म और अचिन्तनीय जादूकी लकड़ी है।

मैंने साफ देखा मुर्शिदाबादकी सड़कोंपर मुसलमान वंशोद्भूत साधक हरिदास भावावेशमें हरिनाम संकीर्तन करते जा रहे हैं और जल्लाद उनपर अविश्रान्त भावसे दण्ड प्रहार करते जा रहे हैं, चेहरेपर जरा भी शिकन नहीं पड़ती, शान्त और मोहक तेज बढ़ता ही जा रहा है—मैं स्तब्ध निर्वाक्! मैंने देखा मेवाड़के राजवंशकी शोभा और शान मीरा बाई दर-विगलित नयन, कम्पमान कण्ठस्वर और खिन्न गात्रसे गोपाललालके विरहमें नृत्य कर रही हैं, राज-परिचारकने जहरका प्याला दिया है, वे अजब लापरवाहीसे पी रही हैं—मैं रुद्ध-श्वास, हत-चेष्ट! मैंने और भी देखा,—बंदा वीर दिल्ली नगरीमें बंदी होकर बैठा है; आँखोंके सामने सात सौ प्राण-प्रिय साथी देखते-देखते तलवारके घाट उतार दिये जाते हैं। जल्लाद बंदाकी गोदमें उसका कोमल बच्चा डालता है; आज्ञा मिलती है, इसे अपने हाथों मार डालो। बन्दा कृपाण उठाता है। पिता-पुत्र साथ ही बोल उठते हैं—"वाह गुरु जी!" और कृपाण उस कोमल कलेवरको कदली स्तम्भकी भाँति विदीर्ण कर देता है—मैं विचलित, अश्रु-अन्ध, विक्षुब्ध!! कहाँसे आयी इतनी शक्ति? ठाकुर, तुम धन्य हो!

मेरे सामने अचानक प्रकाशका एक महासमुद्र दिखायी दिया, देखते-देखते उस प्रकाशने एक निश्चित रूप ग्रहण किया,—एक त्रिभंगी मूर्ति, माथेपर मोर-पंख, हाथमें बंशी और लकुट, कटिमें पीताम्बर, वक्षःस्थलपर

वैजयन्तीकी माला, कन्धेपर कामरी। जीमें आया मध्ययुगके कविके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर चिल्ला उठूँ—

'या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँपुरको तजि डारौं'।

ठीक इसी समय मेरी चिन्ताको आहत करते हुए कुछ भलेआदमी सभा-स्थलपर उपस्थित हुए। समय बहुत निकल गया था। जितने लोग आ गये थे उन्हींके साथ प्रस्तावित विषयको बिना भूमिकाके ही उठा दिया गया। ठाकुरजीके राग-भोगकी व्यवस्थाके साथ ही साथ सारे गाँवके छोटे-मोटे झगड़ोंका विचार आरम्भ हुआ। बहस द्रौपदीका चीर हो उठा। महज सात रुपये माहवारका प्रबन्ध करना था, मैंने उत्तेजनमें अपनी शक्तिके बाहर कुछ अधिक भार उठानेका संकल्प करके वृद्ध सज्जनोंके चित्तको शायद कुछ आघात पहुँचाया, पर कुछ फल नहीं हुआ। मैं फिर एक बार उद्विग्न हो उठा। कुछ समझमें नहीं आया कि मध्ययुगकी महिमा-शालिनी संस्कृतिका उआश्रय यह महावीर्य देवता आज इतना उपेक्षित क्यों है? मेरे सामने कुछ ही क्षण पहले जो तेजःपुञ्ज दिखायी पड़ा था, वह धीरे-धीरे धूमिल होने लगा। मैंने समझा, यह भी मेरा बौद्धिक विकार था, वास्तवमें न मध्य युगकी कोई संस्कृति ही महत्व-पूर्ण थी और न उसका आश्रय यह देवता ही। अचानक तर्क और बहसके भीतरसे एक प्रकाश दिखायी पड़ा। मैं चौंक उठा, उत्तेजित हो गया और क्षण भरके लिए हतबुद्धि हो रहा।

बात यह हुई। सभामें एक पंडित जी बैठे थे। इन्हें हमलोगोंने बड़े आग्रहसे बुलाया था। मनोनीत सभापतिकी अनुपस्थितिमें उन्हींके सभापति होनेकी बात थी। इन पंडितजीको अपनी शास्त्र-निष्ठापर अभिमान था। साधारण मनुष्यके लिए यह समझना बड़ा कठिन है कि कब पंडितका शास्त्र उसकी बुद्धिको दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्रको। सभामें उन्होंने मुझे और मेरे मित्रको चुनौती-सी देते हुए कहा कि ठाकुरजीकी पूजा अबतक शास्त्र-निषिद्ध विधिसे होती रही है। जो साधु

इस समय पूजा कर रहे हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं और शास्त्रके मतसे ठाकुर उसी जातिके होकर पूजा ग्रहण करते हैं, जिस जातिमें पुजारीका जन्म हुआ रहता है। इसके पूर्ववर्ती पुजारी भी अब्राह्मण थे। पिछले तीन वर्षोंसे ठाकुरजी अब्राह्मण होकर ही पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीलिए यह अत्यन्त स्पष्ट बात है कि ब्राह्मण ऐसे ठाकुरजीको पूज्य नहीं समझ सकता! ब्राह्मण धर्मका यथोचित पालन कठिन व्रत है।

पण्डितजीने अपने वक्तव्यको और भी स्पष्ट करते हुए बताया कि अनधिकारीकी पूजासे गाँवका अमंगल हो रहा है। इसलिए पहले अब्राह्मण साधुको स्थान च्युत किया जाय, फिर राग-भोगकी व्यवस्था बाद-में होती रहेगी। मेरा नाम पुकारकर उन्होंने इस विषयपर मेरी स्पष्ट सम्मति चाही।

क्षणभरमें मेरे सामने मध्ययुगकी भूयोभूयः पद-ध्वस्त भारतीय संस्कृतिकी जादू-भरी मूर्ति खेल गयी। वह ब्राह्मण-संस्कृति नहीं थी, श्रमण संस्कृति नहीं थी, राजन्य संस्कृति नहीं थी, शास्त्रीय संस्कृति भी नहीं थी। वह सम्पूर्ण हिन्दू जातिकी एक केन्द्रा संस्कृति थी—अपने-आपमें परिपूर्ण, तेजोमयी, जीवन्त! ये वृद्ध सज्जन जिनके ललाट-पट्टपर रामानुजी सम्प्रदायका विशाल तिलक अंकित है, जो पण्डितजीकी हाँमें हाँ मिला रहे हैं, आज भूल ही गये हैं—और शायद उन्हें कभी जाननेका मौका ही नहीं मिला—कि रामनुजके दादा गुरुओंकी परम्पराके सभी अलवार भक्त अब्राह्मण ही नहीं थे, शूद्रसे भी निम्न कुलमें अवतरित हुए थे! महाप्रभु बल्लभाचार्यने अपने शूद्र शिष्य कृष्णदास अधिकारी (अष्टछापके एक कवि) को श्रीनाथजीके मन्दिरका प्रधान अधिकारी बनाया था। महाप्रभुके गोलोक-वासके अनन्तर एक बार उन्होंने महाप्रभुके एकमात्र पुत्र श्री गोकुलनाथ गोसाईंको भी मन्दिरमें जाना निषिद्ध कर दिया था। पण्डितजी अब्राह्मणीभूत ठाकुरका चरणोदक लेनेमें हिचकते हैं, गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके प्राण-प्रतिष्ठाता महाप्रभु चैतन्य देवने मुसलमान भक्त हरिदासका चरणोदक हठके

साथ छककर पिया था। लेकिन मारिये गोली इन ऐतिहासिक घटनाओं-को। गोप कुलमें पालित और क्षत्रिय वंशमें अवतीर्ण अखण्डानन्द विग्रह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र क्या ऋषि-मुनियोंसे भरी सभामें पूजाके पात्र नहीं समझे गए ?

मैं सोचमें पड़ गया। इस सभामें जो अब्राह्मण कुलोत्पन्न सज्जन बैठे हैं उनके पास क्या आत्मसम्मान नामकी कोई चीज नहीं है ! वे इस कथनका विरोध क्यों नहीं करते ? और इस सभामें जो ब्राह्मण सज्जन बैठे हैं उनमें क्या लोककल्याणकी भावनाका कुछ भी अवशेष नहीं रह गया ? वही क्यों नहीं इस बातका प्रतिवाद कर रहे हैं ? क्यों पहले दलवाले भीरु हैं, कायर हैं, डरपोक हैं और क्यों दूसरे दलवाले हठी हैं, अभिमानी हैं, रूढ़ि-प्रिय हैं ? मैंने उत्तेजित भावसे कहा—'जो ठाकुर जाति-विशेषकी पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जातिकी पूजा ग्रहण करके आग्राह्य-चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान हीन और पतितोंके भगवान हैं, जाति और वर्णसे परेके भग-वान हैं, धर्म और सम्प्रदायके ऊपरके भगवान हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं, और पूजा ग्रहण करके आब्राह्मण-चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं। मेरी बात अभी समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि मेरे मित्रने मुझे बीचहीमें रोका। उन्होंने ओरेटरकी भाषा और भाष्कारके लहजेमें कहा कि वे मेरी बातसे सोलह आने सहमत हैं, पर ऐसी बात ऐसे समायमें नहीं कहनी चाहिए। वे शंकित हो रहे थे कि उनकी परिश्रम-पूर्वक बुलायी हुई सभा कहीं व्यर्थतामें पर्यवसित न हो जाय। मेरी उत्ते-जना उनकी आशंकाका प्रधान कारण थी। लेकिन मुझे इसलामकी बात याद आ रही थी—डरपोक ही समझौता किया करते हैं।

(३)

मेरे मित्र मुझे समझा रहे थे (क्योंकि भरी सभामें नासमझीका कार्य एक मात्र मैंने ही किया था !) और मैं अपनी सहज सहचीरी कल्पनाके

साथ ऊपर उठने लगा। मैं सभा-स्थलसे कुछ ऊपर उठा, ठाकुरजीके मन्दिरके ऊपर गया, उनकी निष्कम्प ध्वजासे भी ऊपर उठा—उठते-उठते मैं अखिल आकाशका प्रत्येक स्तर लाँघ गया। अब मैं ऐसी जगह आ गया जहाँसे दुनियाका कोई रहस्य दिखनेसे बाकी नहीं था। मैंने दक्षिणकी ओर देखा। सूची-भेद्य निबिड़ अन्धकारके साथ चिताकी आग जूझ रही थी, उसी प्रकाशमें कलकल-निनादिनी नदी चाँदीकी लकीर-सी चमक रही थी, सामने दूरतक फैले हुए सैकत-राशिपर केवल कंकाल और नर-मुण्ड बिखरे पड़े थे। चिताके पास एक काली-सी मूर्ति बैठी थी, शायद वह चिताका अधिकारी चाण्डाल था। इसी समय मेरे आश्चर्यको शतगुण वृद्धि करते हुए एक चारु-दर्शन महात्मा चिताकी ओर भागते हुए दिखायी दिये। घने, काले, घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त थे, पर शोभा उनसे चुई-सी पड़ती थी; विशाल भालपट्टपर रामानुजी तिलक विराजमान था, पवित्रता उसमें अपनी छाया देख रही थी; कटि देश और स्कन्ध देश पीत पट्टाम्बरसे विभूषित थे; मुख-मण्डलके चारों ओर प्रकाशकी किरणें छिटक रही थीं; मनोहर मुख देखकर आँखें धन्य हो जाती थीं। महात्मा अचानक आकर चाण्डालके चरणोंसे लिपट गये। चाण्डाल चिल्ला उठा—"प्रभो, पामरको और भी अपराधी बना रहे हो? क्या करते हो देवता? छोड़ो, छोड़ो, मैं पापी, मैं चाण्डाल, मुझे रौरव नरकमें न फेंको!"

महात्माने कसकर चरण पकड़ लिया। उसी अवस्थामें बोले—शान्त हो जाओ। मेरे नारायण,नष्ट हो जाने दो मेरी सारी वासना, मेरा सारा अभिमान इस पावन तीर्थमें। मैं उस मठका प्रधान हूँ। तीन दिन पहले तुम भगवानका दर्शन करने गये थे, मेरे शिष्योंने तुम्हारा अपमान किया था। तबसे भगवान् रूठ गये हैं। तीन दिनसे मैं भूखा-प्यासा हूं। मेरे ठाकुरने मेरा अन्न खाना छोड़ दिया है। आज वे आये थे, चेहरा उनका उदास था, आँखें उनकी डबडबायी हुई थीं, उत्तरीय उनका अश्रु-सिक्त था, गला उनका भरा हुआ। मैंने रोते हुए पूछा—मेरे ठाकुर, मेरे

प्यारे, तुम्हें हो क्या गया है? भर्रायी हुई आवाजमें उन्होंने गरजकर कहा—रामानन्द, मैंने तुम्हारा मठ छोड़ दिया है, तुम्हारे शिष्योंने मेरे भक्तका अपमान किया है। मैं अब यहाँ नहीं आ सकता। भीत भावसे मैंने पूछा—तुम अब कहाँ रहोगे मेरे ठाकुर? भगवानने जल्द गम्भीर स्वरमें कहा—जहाँ मेरे भक्त रहते हैं। वह देखो, उस श्मशानमें वही मेरा भक्त चिता जला रहा है। तुम उसकी कृपाके बिना मुझे नहीं पा सकते। यह कहकर वे चले गये और मैं दौड़ा तुम्हारे पास आया। मेरा शास्त्राभिमान आज धूलमें लोट रहा है, मेरा वर्ण और आश्रमका अभिमान आज अस्त हो गया है; तुम भक्त हो, तुम नारायणके रूप हो, मेरे ऊपर कृपा करो। आज्ञा दो, मैं क्या सेवा कर सकता हूँ।"

चाण्डाल भक्तने गद्गद् कण्ठसे कहा—"प्रभो, मैं क्या कृपा कर सकता हूँ। भगवान् अगर मुझे कुछ इसी प्रकारकी अनधिकार चर्चा करनेको कहते हैं, तो उठो प्रभो, मैं आज्ञा देता हूँ, स्नान करके मुझे अपना शिष्य बना लो, वह रास्ता दिखा दो जिससे मैं अभिमानका समुद्र तैर सकूँ, भक्तिकी नौका पा सकूँ।" रामानन्दने आज्ञा पालन किया, और दिग्वधुओंने मौन शंख-नाद। मैं चिन्तातुर हो उठा। यह इतिहास है या मनोवाञ्छित स्वप्न?

मैंने देखा, मेरे गाँवके मन्दिरसे भी ठाकुरजी निकले जा रहे हैं। उनकी मुखाकृति गम्भीर है। जिस चटुल-चपल आनन्दमयी मूर्तिकी कल्पना मैंने आजतक की है, उसका कोई चिन्ह उस चेहरेपर नहीं है। सारा आसमान अणु-परमाणुओंके साथ 'धिक-धिक कर' उठा। मेरे सिवा यह धिक्कार-वाक्य और कोई दूसरा नहीं सुन सका। लज्जा और ग्लानिसे मेरा चेहरा काला पड़ गया। मेरे ग्रेजुएट मित्र मुझे अब भी समझा रहे हैं। मैं शायद कुछ समझने योग्य हो चला था। अचानक उनके मुँहसे एक युक्तिकी अवतारणा होते देख मेरी भावुकताको एक और दचका लगा।

उन्होंने मेरे वाक्यका यह अर्थ लगाया—जो मेरा लक्ष्य न होते हुए भी सही था—कि मैं मुसलमानोंका भी पूजनका अधिकारी मान रहा हूँ।

हाय हिन्दू और हाय मुसलमान! आठ सौ वर्षके निरन्तर संघर्षके बाद, एक दूसरेसे इतने नजदीक रहकर भी, तुमने अपनी एक संस्कृति न बनायी! अभी कुछ ही क्षण पहले सभामें बैठे हुए एक क्षत्रिय अध्यापकको अभिवादन करते हुए एक वैश्य शिष्यने कहा था—सलाम, बाबू साहब। शास्त्र-निष्ठ पण्डितजीने दपटकर बताया—'यह मुसलमानी कायदा है। क्षत्रिय अध्यापकने क्षमा याचना-सी करते हुए कहा—हमलोगोंमें बुरा रिवाज चल गया है।' लेकिन यह और इसी तरहके दो-चार और बुरे रिवाज ही तो हिन्दू और मुसलमान नामक दो विशाल शिलापटोंको जोड़नेके गोंद थे। आज वह भी टूटने जा रहे हैं, वर्जन परायण हिन्दू-भाव सबको धो-पोंछ डालना चाहता है, अभिमानी मुसलमान-भाव कुछ भी ग्रहण करना नहीं चाहता।

मुझे इस समय ऐसा मालूम हुआ कि पश्चिमी महासमुद्रकी भयङ्कर लहरोंसे दो-चार श्वेतांग नाविक जूझते हुए चले आ रहे हैं। सामने और पीछे जहाँतक दृष्टि जाती है, केवल पानी ही पानी दिख रहा है, केवल लहरोंका फूत्कार, केवल लोल समुद्रका गर्जन! उनके चेहरे शान्त हैं, मस्तिष्क धीर। इस शान्तिको देखकर मैं डर गया। यह वह शान्ति थी जिसके पेटमें सारी दुनियाका तूफान था। मैं साँस रोककर उनके असम साहस और धैर्यको देखता रह गया—निर्वाक्, निश्चेष्ट, निस्तब्ध!! अन्तमें ये नाविक भारतीय किनारेपर पहुँचे। फिर टिड्डियोंके दलकी तरह शत-शत नौकाएँ महासमुद्रके लोल वक्षपर छोड़ दी गयीं। भारतीय अन्तरीप इस कोनेसे उस कोनेतक इन विदेशियोंसे भर गया। मौका देखकर इन्होंने दनादन आघात किया, पहलेसे ही अलग हिन्दू और मुसलमान दूरसे दूरतर होते गये। मौका देखकर विदेशी राजा बन बैठे और अपूर्व अध्यवसाय और लगनके साथ दोनों जातियोंको सम-

झनेकी कोशिश करते गये। जितना ही उन्होंने समझा उतना ही भेद-भावको उत्तेजित किया। आज हम प्रत्येक बातको हिन्दू दृष्टिकोण और मुसलमान दृष्टि-कोणसे देखनेके आदी हो गये हैं, मानों ऐसा कोई दृष्टि-कोण ही नहीं है जिससे हिन्दू और मुसलमान साथ ही देख सकें। मैंने फिर एक बार दीर्घश्वासके साथ मन ही मन कहा—हाय रे हिन्दू और हाय रे मुसलमान !!

अन्तमें,काफी बहस-मुबाहिसेके बाद, सभी दूसरे दिनके लिए स्थगित हुई। मैं अब भी कल्पनाके मनोगामी रथपर आसीन था। मेरे बगलमें एक तरुण पंडित मित्र बैठे थे। वे दूसरे गाँवसे आये थे। एकमात्र वे ही शुरूसे अखीरतक निर्लिप्त भावसे बैठे रहे। उन्होंने सब सुना पर कहीं भी विचलित नहीं हुए, कहीं भी चंचल नहीं हुए। मुझे झकझोरते हुए उन्होंने कहा—"चलिये, आजकी सभा समाप्त हुई। आप बहुत उत्तेजित हो जाते हैं।" मैंने कहा—'ठीक है।'

पर क्या ठीक था? मेरे गाँवकी यह ठाकुरबारी कुछ ऐसी महत्वपूर्ण नहीं है कि इसकी अव्यवस्थाके कारण विराट हिन्दू समाज अणुमात्र भी लज्जा अनुभव करे। और यह सभा? यह तो ततोधिक नगण्य है। फिर क्या कारण है कि इस मामूली-सी सभाने मेरे मनमें भारतीय महामानव समुद्रके प्रत्येक तरंग-विस्फूर्जनकी स्मृति उत्पन्न करा दी? शायद यह हिन्दू समाजकी जीवनी शक्तिका सबूत हो,यह इस विराट महामानव समुद्रकी सजीवताका प्रमाण हो। असल बात यह है कि इस महामानव समुद्रका कोई तरंग स्वतन्त्र नहीं है। इस मामूली-सी ठाकुरबारीकी समस्या भी सारे विश्वकी समस्याके साथ जटिल भावसे उलझी हुई है, उसको विच्छिन्न भावसे सुलझाया नहीं जा सकता। सभाएँ होती रहेंगी, राग-भोगकी व्यवस्था होगी भी, नहीं भी होगी, पर समस्या ज्योंकी त्यों रहेगी अगर उसे विराट पैमानेपर नहीं सोचा गया। सारे गाँवके मनुष्य सारे जगतके साथ विचित्र भावसे जड़ित हैं, उनपर विश्वकी राजनीतिक, आर्थिक,

सामाजिक, नैतिक आध्यात्मिक सभी प्रकारकी गुरुतर समस्याओंका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव पड़ रहा है। वे ठाकुरजीसे उदासीन होनेको बाध्य हैं। सामने जो मस्जिद जगमगायी हुई है, वह भी समान रूपसे उपेक्षित है। आजसे दस वर्ष पहले वह इतनी जगमगायी नहीं थी। उसकी आजकी जगमगाहट उसी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबावका परिणाम है जिसके कारण यह ठाकुरबारी उपेक्षित है। एक ही किरण दो रंगके शीशोंसे प्रतिफलित होकर दो तरहकी दिख रही है। यही ठीक था। मैं उठ पड़ा। उठते-उठते मैंने फिर सोचा—लेकिन क्या कारण है कि एक ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याके दबावसे वह मुसलमानी मस्जिद जगमगा उठी है और यह हिन्दू मन्दिर उपेक्षित है! क्या मुसलमानी धर्म ज्यादा सजीव है? शायद नहीं। क्या हिन्दू धर्म ज्यादा मुर्दा है? शायद नहीं। असल कारण यह है कि भारतवर्षके मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, वे हिन्दू धर्मके उत्कर्षसे भीत हैं। दूसरी तरफ हिन्दू धर्म जरूरतसे ज्यादा आत्म-विश्वासी हो गया है। मुसलमान अपनी बची-खुची सारी शक्ति समेटकर मुसलमानियतका प्रदर्शन कर रहे हैं। यह अवस्था बहुत दिनों-तक नहीं चलनेकी। वह आगन्तुक उत्साह भी समाप्त हो जायगा और यह अत्यधिक आत्मबोध-मूलक शैथिल्य तो समाप्त हो ही चला है। जब दोनों समाप्त हो जायँगे तभी रास्ता सूझेगा, तभी शान्ति आयेगी। तथास्तु।

संस्कृतियोंका संगम

अपने प्राचीन ग्रंथोंके अध्ययनसे हम ऐसी अनेक जातियोंका परिचय पाते हैं जिनमें आचार-विचार-गत पार्थक्य बहुत अधिक मात्रामें वर्तमान था। ये जातियाँ सभ्यताके नाना स्तरोंपर स्थित थीं और उनमें अकारण और सकारण युद्ध बराबर होते रहते थे। अधिकांश युद्ध विभिन्न विश्वासों और संस्कारोंके संघर्षके कारण हो जाते थे। भौगोलिक-प्रत्नतत्त्वके पंडितोंका अनुमान है कि इस देशका मध्य और दक्षिणी भाग पुराना है, हिमालय और राजपूताना अपेक्षाकृत नये भूखण्ड हैं जिनमें एक भूगर्भके आकस्मिक उत्पात से समुद्रमेंसे उन्नत हो आया और दूसरा प्रकृतिके सहज क्रममें सूखकर मरुभूमि बन गया है। इसपरसे यह समझा जा सकता है कि यदि इस देशमें प्रथम मनुष्यका वास कहीं हुआ होगा तो वह विन्ध्यपर्वतके दक्षिणमें ही कहीं रहा होगा। यह भूभाग कभी आस्ट्रेलियाके विशाल द्वीपके साथ स्थल मार्गसे सम्बद्ध था और निकोबार और मलक्काके द्वीप भी इस भूभागके ही सलग्न अंश थे। इस भूखण्डमें कभी मुंडा या कोल श्रेणीकी जातियोंकी बस्ती थी। ये जातियाँ अब भी वर्तमान हैं और अपनी पुरानी परम्पराको कथंचित् जिला रखनेमें समर्थ हैं। साधारणतः यह समझा जाता रहा है कि ये जातियाँ भारतीय सभ्यताके केन्द्रों, संचरण मार्गों और तीर्थस्थलोंसे दूर रहनेके कारण इस सभ्यताको बहुत कम 'संसर्ग-दुष्ट' बना सकी हैं। पर आधुनिक शोधोंसे बिल्कुल उल्टे तथ्योंका आविष्कार हुआ है। प्रो० सिलवां लेवीने अंग-बंग, कामरूप-तामरूप, कलिङ्ग-त्रिलिङ्ग आदि देशवाचक और स्थानवाचक नामोंके अध्ययनसे यह दिखा दिया है कि इन जातियोंकी परम्परा एकदम उपेक्षणीय नहीं। लेवीके शिष्य प्रो० ज्युलुस्कीने मोन-

ख्मेर श्रेणीकी भाषाओंके साथ इन जातियोंकी भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन कर एकदम नयी जानकारियोंका द्वार उद्घाटना कर दिया है। यह समझना गलत है कि ये जातियाँ हमारी सभ्यतामें कुछ भी नहीं दे सकी हैं। अनेक वृक्षोंके नाम, खेतीबाड़ीके औजारों और अन्य पारिभाषिक शब्दोंके नाम इनकी भाषाओंसे आर्य भाषाओंमें आये हैं। वृक्षपूजा इन जातियोंकी देन हो सकती है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि लिंगपूजा और लांगलधर और लांगूलधर देवताकी पूजा भी इन जातियोंसे हिन्दू धर्ममें आयी होंगी। ताम्बूल भी इसी श्रेणीके भाषाको किसी शब्दका संस्कृतिक रूप है। ताम्बूलको परवर्ती हिन्दू धर्ममें और शिष्टाचारमें जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है वह सर्व-विदित है। उड़ीसा और बंगालके अनेक धर्ममतोंपर और परवर्ती कबीर पंथपर भी इनके प्रभावका प्रमाण उपलब्ध हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक हिन्दू जातियाँ भी मूलतः इसी श्रेणीकी होंगी। हिन्दू समाजके निचले स्तरमें खेतीबाड़ी करनेवाली बहुत-सी जातियाँ इनका आर्यभाषी संस्करण हैं। इस प्रकार इन जातियोंके अध्ययनसे हमारे धर्म-जीवनकी परम्पराके अध्ययनमें बहुत सहायता मिल सकती है, पर दुर्भाग्य-वश इनका जितना ठोस अध्ययन होना चाहिए उतना हुआ नहीं है।

विन्ध्यपर्वतको पार करके दक्षिण जानेवाले सर्वप्रथम मुनि अगस्त्य समझे जाते हैं। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्री रामचन्द्रने दक्षिणको विजय किया और उन्होंने ही उस भूखण्डमें आर्य प्रभावका विस्तार किया। यह बात केवल प्राचीन परम्पराकी आधुनिक काल्पनिक व्याख्या मात्र भी हो सकती है और आंशिक रूपमें सत्य भी हो सकती है। श्री रामचन्द्रको दक्षिणकी कई ऐसी जातियोंका सहयोग मिला था जिन्हें कृषिकर्मका भी अभ्यास नहीं था और केवल वृक्षोंकी डाल और पहाड़ोंके टुकड़े अर्थात् पत्थरके अस्त्रोंका ही व्यवहार जानती थीं। इन्हें 'वानर' कहा गया है। रामके पास लोहेके बाण थे। आधुनिक शोधोंने इस विचित्र रहस्यका उद्घाटना किया है कि उत्तर और दक्षिणके प्रागैतिहासिक

युगके इतिहासमें एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि उत्तरमें प्रस्तर युग और लौह युगके बीचमें ताम्रयुग आता है जबकि दक्षिणमें प्रस्तर युगके बाद एकदम लौह युग आ जाता है। छोटा नागपुरकी खुदाइयोंसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है। विद्वानोंने अनुमानसे कहा है कि द्रविड़ जातियोंने मुंडा या कोल जातियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। सन् १९२४ ई० में एक महत्वपूर्ण बातका पता लगा। डा० राखालदास बनर्जीने मोहन-जो-दड़ोमें और पं० दयाराम साहानीने हरप्पामें धरतीके नीचे गड़ी हुई एक अत्यन्त समृद्ध आर्यपूर्व सभ्यताका पता लगाया। ऐसे भवनोंका आविष्कार हुआ जिनमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण वस्तुएं उपलब्ध हुईं। इनमें कुछ ऐसी मुद्राएं (सील) मिलीं जिनकी लिपि अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी। उनमें सांढ़ोंकी उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी मिलीं। ये सारी चीज़ें खीष्ट-पूर्व तृतीय सहस्राब्दकमें उपलब्ध सुमेरियन वस्तुओंसे बहुत मिलती थीं। जब सर जान मार्शलने इस अनुसन्धानके परिणामस्वरूप प्राप्त वस्तुओंका लेखाजोखा प्रकाशित किया तो पंडितोंकी दुनिया आश्चर्यसे स्तब्ध रह गयी। पंडितोंने नाना प्रकारके अनुमान भिड़ाये। बलूचिस्तानमें ब्राहुई नामक द्रविड़ भाषाका सन्धान पहले ही पाया जा चुका था। एक पूरी सुमेरद्राविड़ सभ्यताका अनुमान किया गया। इन समानताओंके आधारपर कुछ बहुत अधिक तो नहीं कहा जा सकता पर इतना तो निश्चित है कि ईसामसीहके हजारों वर्ष पहले द्रविड़ सभ्यताका मेसोपोटामिया, मिस्र और बैबिलोनिया आदिकी सभ्यतासे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इधर हालमें कुछ इस प्रकार विश्वास किया जाने लगा है कि सिन्ध उपत्यकाके लोग ही सामुद्रिक मार्गसे सुमेरकी ओर गये थे। सुमेरियन लोगोंकी एक पौराणिक गाथा यह है कि 'औनस' (Oannes) नामक मत्स्य रूपधारी पुरुष ईरानकी खाड़ी तैरकर आया था और सुमेरियन लोगोंको ज्ञानका उपदेश दिया था। इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि सिन्धु-उपत्यकाके लोगोंने ही सभ्यताका सन्देश सुमेर-वासियोंको सुनाया था। जो हो, यहाँ

प्रकृत विषय यह है कि आर्यों के आनेके पहले इस देशमें एक अत्यन्त समृद्ध द्रविड़ सभ्यता थी। यह कहना कि श्री रामचन्द्रने समूचे दक्षिणको सभ्य बनाया, विशेष युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि रावण और उसके राज्यके लोग रामायणकी अपनी गवाहीपर ही कम समृद्ध नहीं जान पड़ते। यह हो सकता है कि लोहेका परिचय द्रविड़ोंको आर्यों से हुआ हो, पर यह इतनेसे अधिक और कुछ भी नहीं सिद्ध करता कि दक्षिणकी पर्याप्त समृद्ध सभ्यतामें लोहेका अभाव था। आर्यों के पास लोहेके अस्त्र थे जिससे वे विजयी हुए। एक दूसरी बात भी उनके विजयका कारण रही होगी—घोड़े।

यदि १९२४ ई० में संयोगसे मोहन-जो-दड़ो और हरप्पाकी लुप्त निधियोंका आविष्कार न हो गया होता तो आज हम उतना भी नहीं सोच सकते जितना इस समय सोच सकते हैं। इस घटनाका एक महत्त्व-पूर्ण पहलू यह भी है कि पुरातत्त्वके प्रमाणोंके अभावका अर्थ किसी विचारधारा या तथ्यका अभाव नहीं है। बहुत सम्भव है कि धरतीके किसी-न-किसी कोनेमें तथ्य मुँह छिपाये पड़ा हो। हो सकता है कि तथ्यका सन्धान बतानेवाला पुरातत्त्वका चिह्न एकदम मिट ही गया हो। ऐसी अवस्थामें परम्परा हमको बहुत-कुछ सहायता दे सकती है। परम्परया हम सुनते आते हैं कि रावण बहुत बड़ा शैव साधक था, वह वेदोंका व्याख्याता था, वह शिल्प-शाखाका उन्नायक भी था और उसको आयुर्वेदिक आचार्य होने-का गौरव भी प्राप्त है। इन बातोंके सबूतमें कोई ऐतिहासिक समझा जाने-वाला प्रमाण नहीं मिला है। रावण-लिखित बतायी जानेवाली आयुर्वेदकी पुस्तक बहुत आधुनिक है और जिन शिल्प ग्रन्थोंमें रावण प्रवर्तित शिल्प-शाखाका उल्लेख है वे भी बहुत आधुनिक हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये बातें एकदम गप्प हैं और इनको एकदम अस्वीकार कर देना चाहिये। ऐतिहासिक प्रमाणसे समर्थित परम्परा बहुत बहुमूल्य होगी, इसमें सन्देह नहीं पर असमर्थित परम्परा एकदम त्याज्य नहीं मानी जानी चाहिये।

द्रविड़ जाति कौन है? शुरू शुरूमें आर्येतर जातियोंको द्रविड़ कहनेका एक फैशन था। इनमें रावण भी था, बाणासुर भी था, प्रह्लाद और बालि आदि भी थे। परन्तु अब यह बात स्पष्ट हुई कि तथाकथित द्रविड़ जाति कोई एक मानवमण्डली नहीं है। द्रविड़ भाषाओंको बोलनेवाली सभी जातियोंको भी द्रविड़ नहीं कहा जा सकता। रावणका जन्म जिस जातिमें हुआ था उसका आधुनिक नाम क्या है? यह भी अनिश्चित ही है। कुछ लोगोंने गोंड जातिको उस जातिका आधुनिक जीवितरूप बताया है। गोंड राजाओंकी प्रशस्तियोंसे भी पता चला है कि वे अपनेको 'पुलस्त्य-वंशी' समझते थे। गोंड-शब्दके साथ संस्कृतके 'कौणप' 'कौण्डप' (राक्षस) आदि शब्दोंकी समानतासे भी इस तथ्यको पुष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। पौराणिक परम्परा इस विषयमें बहुत उलझी हुई है। रावणको पुलस्त्य मुनिकी सन्तान भी बताया गया है, यक्षपति कुबेरसे उसका रिश्ता भी जोड़ा गया है और उसे स्पष्ट रूपमें 'ब्राह्मण' भी कहा गया है। उसके आचारमें शिवकी पूजा भी है, वेदका पाठ भी है और मद्य-मांसका सेवन भी है।

पंडितोंमें यह विश्वास जमता जा रहा है कि वृक्ष पूजा, नर-बलि, जीव-बलि, मद्यमांसकी बलि, प्रेत पूजा आदि आचारोंके मूल उत्स मुण्डा या कोल जातियाँ हैं और मूर्तिपूजा, ध्यान, जप, गुरु-पूजा, अवतारवाद आदिके मूल प्रेरणा स्रोत ऐसी जातियां हैं जो इन कोल मुंडा आदि श्रेणीकी जातियोंसे अधिक सभ्य और समृद्ध थीं। एक शब्दमें इनका नाम 'द्रविड़' रख दिया गया है।

परवर्ती कालका वह तन्त्रवाद जिसमें स्त्री-तत्वकी प्रधानता थी और शरीरको ही समस्त सिद्धियोंका श्रेष्ठ साधन माना जाता था यक्ष, गन्धर्व आदि किरात जातियोंकी देन रहा होगा। उत्तरसे ही कापालिक और वाममार्गोंका आगमन हुआ होगा। हमने अन्यत्र इस विषयकी विशेष छानबीन की है। बंगालमें इन लोगोंके साथ द्रविड़ जातियोंके मिश्रणसे एक नयी जातिका जन्म हुआ है। बादमें चलकर आर्यरक्तका भी इस जातिमें मिश्रण हुआ है।

परन्तु इन सबसे अधिक प्रभावशाली जाति आर्य हैं जिनका वैदिक-साहित्य इस देशकी सभी जातियोंपर जबर्दस्त प्रभाव विस्तार कर सका है। वे आर्य लोग किस ओरसे भारतवर्षकी मध्यभूमिकी ओर आये यह सर्व-सम्मत बात है। उत्तर पश्चिमकी ओरसे ही वे लोग मध्य देशमें आये। पर इस ओर आनेके पहले वे कहाँ रहते थे यह बात बहुत उलझी हुई है। कुछ थोड़ेसे तथ्योंका पता लगा है। इनकी व्याख्या बहुत भाँतिकी होनेके कारण ये तत्व स्वयं ही अस्पष्ट हो गये हैं। कुछ यूरोपियन पंडितोंने एक बार यह बतानेका यत्न किया था कि आर्य लोग यूरोपसे इधर आये थे पर आर-मीनियन भाषापर इसका कोई चिन्ह न मिलनेसे यह सोचा गया कि यूरोपसे ईरानके रास्ते वे उस भूभागको छोड़कर किसी प्रकार भारत नहीं आ सकते थे। सन् १९०९ ई० में हिटाइटकी राजधानी बोगाज् केउईकी खुदाईसे यह साबित हुआ कि हिटाइट भाषाका कोई-न-कोई सम्बन्ध आर्य-भाषाओंसे है। यद्यपि विद्वानोंमें इस बातको लेकर मतभेद ही बना रहा है कि हिटाइट भाषा आर्य-भाषा ही है या आर्य भाषाद्वारा प्रभावित है। परन्तु इससे भी अधिक मनोरंजक आविष्कार यह हुआ है कि यूफ्रेटसके उपरले हिस्सेके मित्तानी राज्यने १४०० ई० पू० में हिटाइटके राज्यसे सन्धि करते समय उन देवताओंके नाम साक्षीरूपमें लिये हैं जो भारतीय वैदिक साहित्यके विद्यार्थीके निकट अत्यधिक परि-चित हैं। ये देवता हैं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य। निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इस भूभागमें आर्योका आगमन किसी समय हुआ होगा। स्टेन कोनोंके इस अनुमानका अभी भी युक्ति-संगत खण्डन नहीं उपस्थित किया जा सका कि इन देवताओंकी उपासना करनेवाला सम्प्रदाय भारतवर्षसे कैपेडोशियाके किनारे-किनारे दूरतक फैल गया था। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य-एशियाके किसी स्थानसे आर्य नाना दिशाओंमें फैले थे। इनका एक हिस्सा ईरान होकर भारत आया था और दूसरा खाल्डिया और एशिया माइनरकी ओर चला गया था। जो

हो, इन आर्योंका प्रभाव भारतवर्षकी विभिन्न जातियोंपर बहुत अधिक पड़ा। हमारा उच्चतर दर्शन, धर्मतत्त्व और अध्यात्म इन आर्योंके साहित्यसे निरन्तर प्रेरणा पाता रहा है।

परन्तु जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, यह भारतवर्ष महामानव-समुद्र है। केवल आर्य, द्रविण, कोल और मुण्डा तथा किरात जातियाँ ही इसमें नहीं आयी हैं। कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आयी हैं जिन्हें निश्चित रूपसे किसी खास श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर पश्चिमसे नाना जातियाँ राजनीतिक और आर्थिक कारणोंसे आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्नसे वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।

आज केवल अनुमानके बलपर ही कहा जा सकता है कि अमुक प्रकारका आचार आर्य है, अमुक प्रकारका विचार द्रविण है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आर्य-अनार्य जातियोंने इस देशके धर्मविश्वासको नाना भावसे समृद्ध किया है। आज भी उन जातियोंकी थोड़ी बहुत परम्परा बच रही है। उनके अध्ययनसे हम निश्चित रूपसे इस नतीजेपर पहुँच सकते हैं कि हमारे धर्मविश्वासको सभी जातियोंने किसी-न-किसी रूपमें प्रभावित अवश्य किया है।

समालोचककी डाक

नौ बज गये हैं। विद्याभवनके एक कोनेमें समालोचक बैठा हुआ है। सामने पुराने बङ्गाक्षरोंमें लिखा हुआ तीन सौ वर्ष पुराना महाभारत और तञ्जोरसे भेजे हुए शोट्स पड़े हुए हैं। ताड़के पत्तोंमें न जाने कीड़ोंको क्या रस मिलता है, सारी प्रति चलनो-सी बना डाली है। समालोचक सावधानीसे एक-एक अक्षर मिला-मिलाकर पाठान्तर संग्रह करता जा रहा है। सावधानी इसलिए कि उसके बगलमें ही 'चेक' करनेवाले पण्डितका आसन है। उसे अपना सम्मान तो बचाना ही है। लेकिन समालोचकका चित्त चञ्चल है। लो, यह गलती हो गयी। पाठान्तर शायद छूट गया। पीछेसे आवाज आयी—'पण्डितजो !' यही समालोचकका नाम है, उपाधि है, गुण है, दोष है।

हरिहर शान्तिनिकेतनका डाकिया है, मस्त, हँसमुख और शालीन। समालोचक उसकी ओर भयसे, आशासे, आशङ्कासे और उत्सुकतासे देखता है।

'मनोआर्डर है क्या ?'

यह नहीं कि समालोचकके पास रोज ही मनीआर्डर आते हों। न आते हों सो भी नहीं। परन्तु

"ते कि सदा सब दिन मिलहिं ?
समय-समय अनुकूल !"

फिर भी वह डाकियेसे रोज पूछता है और डाकिया भी इस विनोदसे परिचित है। मुसकुराकर जवाब देता है—'कोई, टाका कोथाय ?' मालूम हुआ कि रजिस्टर्ड बुकपोस्ट हैं और चिट्ठियाँ हैं और मुफ्त ही मिल जानेवाली कुछ पत्रिकाएँ हैं।

चिट्ठियोंमें ७५ फी सदी साहित्यिक होती हैं, कभी-कभी बधाई, कभी-कभी डाँट, कभी-कभी अनुनय, कभी-कभी प्रलोभन। समालोचक एक-एक करके उन्हें पढ़ता है। उत्फुल्ल होता है और आगे बढ़ता है। महाभारतकी पोथी खुली हुई है। वह रजिस्टर्ड बुकपोस्टोंको देखकर सोचता है कि बादमें देख लेगा। पैकेट पड़े हुए हैं। खूब सँवरकर आये हैं, रेशमी धागोंसे बँधे हैं, सुन्दर अक्षरोंमें पता लिखा हुआ है।

ये निश्चय ही कविताकी पुस्तकें हैं। ऊपरवाली इतनी सावधानीसे बाँधी हुई है कि कविके Conscious artist होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। समालोचक लिफाफा देखकर खतका मजमून भाँपने लगता है। लाल और नीले रेशमी फीतोंसे बँधे हुए पैकेटमें किसी युवक कविकी प्रेम-कथा बँधी हुई है। उसकी कल्पना-जगतकी प्रेयसी निश्चय ही अप-टु-डेट् फैशनकी परिपाटीविहित सजासे सज्जित होगी, उसका मुख चाँद सा गोल और आँखें आमकी फाँक-सी बड़ी होंगी। काजल वह जरूर लगाती होगी, केशमें एकाध फूल निश्चय ही रहते होंगे—वे काल्पनिक रजनीगन्धाके भी हो सकते हैं, जूही-चमेलीके भी हो सकते हैं—और पुस्तकका शिरोभाग जो साफ खुला हुआ दीख रहा है और उस सुन्दर बँधाईके भीतरसे लापरवाहीसे फटे हुए जो पन्ने दीख रहे हैं, वे इस बातके सबूत हैं कि उस कल्पित प्रेयसीके गुलाबी कपोलोंपर उसके अस्त-व्यस्त चिकुर भी हिल रहे होंगे। कविके प्रेममें उतावलापन नहीं है, धीरतासे भरी हुई व्याकुलता है—यह बात तो सारा पैकेट ही कह रहा है। खोलकर देख ही क्यों न लिया जाय। पर अब भी महाभारतके पन्ने खुले हुए हैं। सम्हालकर बाँध नहीं दिये गये तो स्वतन्त्र होकर निकल पड़ेंगे। फिर उनको सकुशल फिरा ले आना असम्भव है। मगर समालोचक उस सफेद धागोंवाली पुस्तकको भी छोड़ना नहीं चाहता। इस कविकी प्रेयसी सुन्दर जरूर होगी, पर अप-टु-डेट भी होगी ऐसा नहीं कह सकते। प्रियको ओर देखकर लजा जाती होगी, मुसकाती जरूर होगी पर प्रियको मालूम

भी नहीं होने पाता होगा। जब वह झुँझलाकर उठ पड़ता होगा तो टप्-टप् दो बड़ी-बड़ी बूँदें उसकी आँखोंसे झड़ पड़ती होंगी। कवि बेचैन हो जाता होगा, सोचने लगता होगा—इन आँसुओंकी उपमा जगतमें हैं? कोई रूपक! कोई उत्प्रेक्षा? सारे पैकेटको देखकर यह कह सकना मुश्किल है कि कवि अपनी प्रेयसीको सजाकर देखनेमें आनन्द पाता है। निश्चय ही वह जितना प्रेम दान करता है उससे अधिक पानेकी आशा रखता है।

पहली पुस्तक अञ्चलजीकी मधूलिका है, दूसरी गिरीशजीका मन्दार। समालोचक अब पाठान्तर-संग्रह नहीं करेगा। वह अपने भाँपे हुए मजमून-को जाँचके ही कोई और काम करेगा। और प्रश्न-पत्रोंको भी वह बादमें देख लेगा।

मधूलिका और मन्दार दोनों ही प्रेम-काव्य हैं। दोनों ही कल्पनाके खेतमें उपजे हैं; पर दोनोंमें एक मौलिक अन्तर है। मधूलिकाके कविकी इच्छा केवल प्रेमी बननेकी है; पर मन्दारका कवि प्रेमी भी बनना चाहता है और प्रिय भी। इसीलिए एक प्रेम-पात्रकी ओरसे लापरवाह होनेके कारण अबाध भावसे अपना गान गाये जाता है, उसे अपनी मस्तीका ही भरोसा है, सुननेवालेने सुन लिया तो ठीक है, न सुना तो उसीका नुक-सान है, कवि निश्चिन्त है :—

अरे जरा सुन लो इनकी तृष्णातुर कसक कहानी;
फिर न मिलेंगे ये मस्ताने दीवाने दीवानी!

पर मन्दारका कवि केवल लालसाकी धारामें बह जाना नहीं चाहता। वह प्रतिदान भी चाहता है :—

जीवनका आधार प्यार है, प्यार पिला दो प्यार।
प्यार बिना मैं ठुकरा दूँगा सोनेका संसार।

(२)

प्रेमी कवियोंके प्रसंगमें समालोचकको बहुत दिन पहले मिली; किन्तु अबतक अनालोचित एक पुस्तकका स्मरण आता है। उसके एक बंगाली

मित्रको उस कविकी मस्ती इतनी अच्छी लगी थी कि वे अर्थशास्त्रका नोट लिखना छोड़कर काव्य-चर्चामें निमग्न हो गये थे। पुस्तक श्री भगवतीचरण वर्माका 'प्रेम-संगीत' है। अगर शुरूमें ही कविने हिन्दीके आलोचकोंको डाँट न दिया होता, तो इस आलोचकको भी इस पुस्तकके बारेमें कुछ कहना था। पर कविकी बातोंमें वह आ गया था। कौन जाने उसने कविको जैसा समझा है, वह कविका मनःपूत रूप न हो और कवि उसकी समझका प्रतिवाद कर बैठे। 'जीवित कवेराशयो न वक्तव्य':—यह पुराने दुनियादार आलोचकोंका सिद्धान्त था। वे कविताको भी समझते थे और दुनियादारीको भी। यह समालोचक इतना बहुज्ञ होनेका दावा नहीं रखता। उसे कहनेकी स्वाधीनता होती, तो कहता कि प्रेम-संगीतके कविकी मस्ती सचमुचकी मस्ती है। वह दुनियाके किसी पदार्थको स्थिर नहीं मानता, प्रेमको भी नहीं, घृणाको भी नहीं। इस क्षण-भंगुरताके अटूट प्रवाहमें वह केवल एक वस्तुको स्थिर समझता है—जैसे नदीकी प्रत्येक चञ्चल बूँदोंके भीतरसे उसका प्रवाह अव्याहत रहता है, उसी प्रकार। यह वस्तु जीवन नहीं है, जैसा कि वह समझना चाहता है। यह वस्तु है उसका अपना व्यक्तित्व। अनन्त प्रवाहके भीतर बहती हुई भी उसकी सत्ता शाश्वत है। प्रेम-पात्र आते हैं और चले जाते हैं, कुछ हँस जाते हैं, कुछ हँसा जाते हैं। कुछ रो जाते हैं, कुछ रुला जाते हैं, और मस्त व्यक्तित्व आगे बढ़ता है :—

> है हमें बहानेको आयी यह रसकी एक हिलोर प्रिये !
> शाश्वत असीममें चलना है निज सीमाके उस ओर प्रिये !

इसीको वह जीवन कहता है। असलमें यह घटनाओंका प्रवाह है, जो उसको आगे ठेल देता है; सब कुछको भुलाकर भी, हटाकर भी वह अपनेको भुला नहीं सकता, सब कुछको मिटाकर भी वह अपनेको मिटा नहीं सकता :—

> किस तरह मिटा दूँ आज हाय अपनेपनकी भी याद प्रिये !

और,

मिट-मिटकर मैंने देखा है मिट जानेवाला प्यार यहाँ।

और,

हम दीवानोंकी क्या हस्ती है आज यहाँ कल वहाँ चले !
मस्तीका आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले !
सब कहते ही रह गये अरे तुम कैसे आये कहाँ चले ?

अपने व्यक्तित्वके प्रति वह इतना सचेतन है कि वह प्रेमोन्मादकी अवस्थामें भी अपनेको नहीं भूल सकता, बल्कि उसका प्रियतम व्यक्ति भी उसकी सत्ताके प्रति उदासीनता दिखलावे, तो वह तुनक जा सकता है:—

यह न समझना देवि कि मुझमें निज ममत्वका ज्ञान नहीं !

उसकी दृष्टिमें सब नश्वर हो सकते हैं; पर वह अविनश्वर है:—

जग नश्वर है तुम नश्वर हो बसमैं हूँ केवल एक अमर !

परन्तु समालोचकको अपना वक्तव्य कहनेका मौका नहीं मिला और पुस्तक पुरानी हो गयी ! आज 'मधूलिका' और 'मन्दारके' सम्बन्धमें विचार लिखते समय भी जब उसके दिमागमें बरबस उस पुस्तककी स्मृति उमड़ पड़ी, तो उसे अपनेको सम्भालना मुश्किल हो गया। वह सोचता है, पुस्तक क्या सचमुच पुरानी हो गयी ?

पाँच लम्बे-लम्बे महीने बीत गये हैं। कवियोंकी कई रचनाएँ आयी हैं। समालोचकने झूम-झूमकर पढ़ा है। प्रयागके श्री देवराजके प्रणय-गीतोंका रसास्वाद किया है। 'प्रणय-गीत' की प्रणयिनीके सौभाग्यकी दाद दी है, जिस "नवल सहचरीके लज्जित मुख-चन्द्रसे" कविकी कविता भी ईर्ष्या करती है, उसकी खुशामदके लिए उसने भी कविता देवीसे प्रार्थना की है कि

छोड़ो अलि अधीर आज छोड़ो कविको[1]
कुछ घड़ियोंका विरह, कुपित होना नहीं;

---

१. मूलपाठ "मुझको" है। समालोचकने परिवर्तित करके ढिठाई की है।—समालोचक

आज किसीको नव चितवनसे विद्ध हो
बँध जाने दो नवल प्रणयकी पाशमें।

उसके हृदयने कहा है कि ये गान स्वर्गीय हैं, मनने कहा है कि मोहक हैं, बुद्धिने कहा है कि जीवन-संघर्षकी प्रतिक्रिया हैं, स्वयं कविने कहा है कि "बढ़ते हुए सन्देहवाद और जड़वादके विरुद्ध एक धीमी आवाज़" हैं। वह आगे बढ़ा है। दिल्लीके श्री नगेन्द्रजीकी 'वनबाला'-के सरस गानोंको गुनगुनाया है, कल्पनालोकमें घूमा है, वन और वनबालाके कल्पना-मञ्जुल सौन्दर्यको मुग्धभावसे देखा है, और कविकी कविताके साथ ही वह भी "पागल-सा पढ़ता विश्व सुकविकी कविता" अपनी सौन्दर्य-विस्मारिणी बुद्धिपर तरस खाकर इस मधुर दृश्यको तद्‌गतप्राण होकर देखता रहा है:—

इन्दुवदनी बाल रजनी सुन्दरी
राजती थी मञ्जु मरकत पीठपर
शुभ्रवसना उडुगनोंकी अवलियाँ
चँवर चाँदीका डुलाती थीं विहँस।

बह चला संगीत मञ्जुल गगनमें
(सिहर उठती थी निशाकी किंकिणी)
विमल निर्झर ताल-सा देता हुआ
मुग्ध मोतीकी हँसी हँसने लगा।

'वनबाला'का कवि निराला प्रेमी है। प्रेम उसकी दृष्टि है, द्रष्टव्य भी नहीं, द्रष्टा भी नहीं। इसीलिए उसकी दृष्टि संसारको इतना कोमल, इतना मञ्जुल देख सकी है। पर शायद कविको अब भी टकराना बाकी है। कहते हैं, प्रेम अन्धा होता है। 'वनबाला'के कविका प्रेम अंधा नहीं है; पर श्री नगेन्द्रकी तरह वह 'क्रिटिक' नहीं है, इतना तो निश्चित

है। संसारको युद्धस्थल कल्पना करके क्रिटिक लोग जिस मतवाद-महासमरका मजा लिया करते हैं, वह 'वनवाला'में स्पष्ट नहीं हुआ है। कवि जितना ही सामंजस्यप्रवण होता है, क्रिटिक उतना ही विश्लेषणप्रवण। नगेन्द्र दोनों हैं। समालोचकने चाहा है कि इन दो विरुद्धाभासित रूपोंमेंसे सामञ्जस्य खोज निकाले। पर यह क्या आसान काम है? वह फिर कभी सोच देखेगा। वह और आगे बढ़ता है। लाहौरके श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'ने, जिनकी कई कहानियोंका आनन्द समालोचक पहले पा चुका है, कविताकी पुस्तक भी लिखी है। नाम है 'प्रात-प्रदीप'। कविवर श्री रामकुमार वर्माने देखा है कि "अश्ककी रचनाओंमें आँसूकी बूँदोंमें भी वाणी आ गयी है।" अश्कजी उर्दूसे शुरू करके हिन्दीके क्षेत्रमें आये हैं। उनकी भाषामें और भावमें वह प्रभाव वर्तमान है। आधुनिक प्रेम कविताकी लचकीली कोमलता उसमें नहीं है। अत्यधिक अभ्यस्त मादकताका भी उसमें अभाव है; पर समालोचक इससे निराश होनेके बदले उत्साहित हुआ है। यहाँ उसे एक ऐसा भी आदमी मिला है, जो लापरवाहीसे अपनी बात अपने ढंगपर कह जाता है, जो संस्कृत और फारसीके गुरुचण्डाली योगसे घबराता नहीं:—

हँस लेता हूँ यह भी सच है पर अदम्य अवसाद!
हो उठता है झूठे संयमसे सहसा आजाद!

काव्यके एक पारखीने इन कविताओंमें शैलीकी तीव्रानुभूति देखी है; पर समालोचकका उसमें एक ही बात बार-बार आकृष्ट करती रही है—कविकी मस्ती, उसकी लापरवाही, उसकी साहसिकता। जीवनमें अनुभूत सत्यको कवि इसी गुणके कारण सहज भावसे, पाठकको बेहोश किये बिना ही, कह गया है:—

पल ही भरकी एक भूलपर जीवन-भर अनुताप!
एक गयी-बीती आशाका करते रहना जाप!

नभमें नित प्रासाद बनाना
दिलकी दुनिया अलग बसाना
लोगोंमें उन्मत्त कहाना
सदा बनाते-ढाते रहना आशाका संसार !
समझाता हूँ अपने दिलको, माँग न पागल प्यार !

अभी इस पुरअसर कवितामें समालोचक डूबा ही हुआ है कि डाकियाने फिर धावा बोल दिया है। अबकी बार पटनेके श्री आरसी-प्रसादजीका 'कलापी' है।। यह कवि भी कुछ वैसा ही मस्त जान पड़ा; पर इसे पाठकको मदमत्त बनानेमें कुछ मजा आता है। समालोचक बिना कसम खाये उसकी अज्ञात प्रेयसीके मदविह्वल सौन्दर्यकी मनोहारिताको अस्वीकार नहीं कर सकता:—

रजतके अश्रु
स्वर्णका हास
दिवामें दूर
स्वप्नमें पास !
अपरिचित-सी परिचित, सविलास
रूपश्री मलयज-वनका श्वास !
दृगोंमें कोमलाभ आकाश
रश्मि-सुकुमार अकूल विकास !

सचमुच ही यह कवि मस्त है। सौन्दर्यको देख लेनेपर यह बिना कहे रह नहीं सकता, भाषापर वह सवारी करता है। इस बातकी उसे बिलकुल परवाह नहीं कि उसके कहे हुए भावोंको लोग अनुकरण कह सकते हैं, अननुभूतिमूलक कह सकते हैं कल्पना-प्रसूत समझ सकते हैं। उसे अपनी कहनी है। कहे बिना उसे चैन नहीं। उपस्थापनमें अबाध प्रवाह है, भाषामें सहज सरकाव। जुहीकी कलीको देखकर वह एक सुरमें बोलता चला जायगा:—

एक कलिका बन छबीली विश्व-वनमें फूल,
सरस झोंके खा पवनके तू रही है झूल;
पँखड़ियाँ फूटीं नहीं, छूटे न तुतले बोल;
मृग-चरण-चापल्य शैशव-सुलभ कौतुकलोल

और, पायी वह न मादकतामयी मुसकान;
सुन सजनि, तू अधखिली नादान !

और इसी प्रकार बहुत-कुछ। समालोचक कविकी व्यासशैलीपर हैरान है, उसके भाव-सागरके उद्वेलनसे दंग ! पर उसे चिरकालतक यह आनन्द लेनेका मौका कौन देता है। मेरठकी श्री होमवती देवीने 'अर्घ' नामक संग्रह पठाया है। समालोचकको साँस लेने का अवसर मिला है। यहाँ उसे शायद प्रेमके सरस सरोवरका दर्शन होगा। यहाँ आकांक्षाएँ शान्त हैं ; उन्मत्त भी नहीं, मृत भी नहीं:—

सखि, वह मुझको क्यों भरमाते ?

निष्ठुर अपने विस्तृत जगमें बरबस खींच मुझे उस मगमें
चिरपरिचित-सा पन्थ भुलाकर इधर-उधर भटकाते ॥
किससे क्या लेना-देना है, दूर मुझे जगसे रहना है
टिसते घावोंको मल-मलकर नाहक व्यथा बढ़ाते ॥
इनकी सच मानूँ मैं सजनी ! या अलसायी-सो वह रजनी
जब प्राणोंके सूनेपनमें चुपके वह आ जाते ॥ सखि० ॥

इस शान्त-स्निग्ध प्रेमके बाद समालोचक और कुछ नहीं पढ़ेगा।

(४)

प्रेमका यह बीहड़ अब भी पार नहीं हुआ। 'मधूलिका'के अपरिग्रहेप्सु प्रेमिक, 'मन्दार'के प्रिय बननेमें सयत्न प्रेमिक, 'बनवाला'के प्रेमकी आँखोंसे देखनेवाले प्रेमिक, 'प्रात-प्रदीप' के अनुभवी और लापरवाह

प्रेमिक, 'कलापी'के अज्ञात लोकके मादक और अज्ञेय प्रेमिक और 'अर्ध'के शान्ताकांक्ष प्रेमिककी चर्चा करनेके बाद कोई समालोचक विराम ग्रहण करनेकी सोच सकता है। केवल प्रेमको बातोंका कोई कहाँतक विवेचन करे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थितिके अनुसार प्रेमका दाँव-पेच बदलता रहता है। समालोचक विश्लेषण करके कहाँतक सिर खपावे। वह अबसे इस उत्तरदायित्वपूर्ण पदसे इस्तीफा दे देगा। कानपुरके एक साहित्यिकने उसे डाँटकर लिखा है कि उसने अमुक पुस्तककी झूठी प्रशंसा लिखके उक्त साहित्यिकका डेढ़ रुपया बर्बाद कर दिया है। ना बाबा, यह समालोचक ऐसे टंटेमें नहीं पड़ेगा। दुनिया अपने प्रेमका गान गावे और मुफ्तमें फटकार सुननी पड़े इस समालोचकको! ऐसे दुमदारसे तो लंडूरे ही भले!

क्षणभर निराश भावसे आसमानकी ओर देखनेके बाद समालोचक फिर सँभल जाता है। उसका यौवनपरका अखण्ड विश्वास फिर लौट आता है। प्रेमका बीहड़! ठीक है, प्रेमके ये काव्य अनन्त शक्तिके प्रतीक हैं, जिसे मानव अपनी युवावस्थामें सञ्चित कर रहा है। प्रौढ़ होते ही जवानोका यह खेल काममें, कल्पना बुद्धिमें, कला उद्योगमें, आशावाद समत्ववादमें, साहस दूरदर्शितामें, उद्दामता मर्यादामें बदल जायँगे—यह निश्चित है। ऐसा ही होता है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहीं सोचनेकी बात है। 'मधूलिका', 'मन्दार' और 'कलापी'में जो खेल है, जो कल्पना है, जो वाग्मिता है; 'प्रणय-गीत' में जो चिन्तनात्मक आशावाद है; 'वन-बाला'में जो मञ्जुल कल्पना है; 'प्रात-प्रदीप'में जो साहस और स्पष्टता है, वह दुर्दमनीय युवशक्तिका परिचायक है। वे भविष्यमें केवल कल्पनाके शून्यमें नहीं घूम सकेंगे। जब वे धरतीपर जमकर खड़े होंगे, जब वे समाजकी समस्याओंके आमने-सामने खड़े होंगे, तो समालोचकको कुछ भी पछताना नहीं पड़ेगा। युक्तप्रान्तके एक अंग्रेजी दैनिकने मजाक किया है कि ५० फी सदी हिन्दी पुस्तकें कविताकी हैं, तो क्या युक्तप्रान्त

कवि हो जायगा ? समालोचक इस सूचनासे उत्फुल्ल हुआ है। जिस देशके युवकोंमें कल्पना, आशावाद, साहस और उद्दामता है, उसी देशके युवक असम साहसिक कार्योंको कर सकते हैं। इन युवकोंको केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि कल्पना और आशावादिता साध्य नहीं, साधन हैं; प्रिय और प्रेयसी लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य हैं; क्रीड़ा और कला प्राप्य नहीं, प्रापक हैं।

समालोचकको अपनी डाकपर गर्व है।

महिलाओंकी लिखी कहानियाँ

प्रचलित विश्वास यह है कि स्त्रीको स्त्री ही ठीक-ठीक समझ सकती है और वही उसको ठीक व्यक्त कर सकती है। इसके साथ जो अनुमान अपने आप उपस्थित होता है। उसे प्रायः भुला दिया जाता है। वह अनुमान यह है कि पुरुषको पुरुष ही समझ सकता है और वही उसे व्यक्त कर सकता है। स्पष्ट ही यह अनुमान सत्यसे बहुत दूर है और इसीलिए उसकी अनुमापक प्रतिज्ञा भी उतनी ही असत्य है। यह विचार कि स्त्री ही स्त्रीको समझ सकती है और पुरुष स्त्री को नहीं समझ सकता, किसी बहके दिमागकी कल्पना-मात्र है। वस्तुस्थिति कुछ और है। उसका कारण पुरुष और स्त्रीके सहयोगके विकास से समझा जा सकता है।

कहते हैं सभ्यताका आरम्भ स्त्रीने किया था। वह प्रकृतिके नियमोंसे मजबूर थी; पुरुषकी भाँति वह उच्छृङ्खल शिकारीकी भाँति नहीं रह सकती थी। झोपड़ी उसने बनायी थी, अग्नि-संरक्षणका आविष्कार उसने किया था, कृषिका आरम्भ उसने किया था; पुरुष निरर्गल था, स्त्री सुश्रृङ्खल। पुरुष का पौरुष प्रतिद्वन्द्वीके पछाड़नेमें व्यक्त होता था। स्त्रीका स्त्रीत्व प्रति-वेशिनीकी सहायतामें। एक प्रतिद्वन्द्वितामें बढ़ा, दूसरी सहयोगितामें। स्त्री पुरुषको गृहकी ओर खींचनेका प्रयत्न करती रही, पुरुष बन्धन तोड़-कर भागनेका प्रयत्न करता रहा। सभ्यता बढ़ती गयी, स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध ऐसा ही बना रहा। पुरुष ने बड़े बड़े धर्म-सम्प्रदाय खड़े किये—भागनेके लिए। स्त्रीने सब चूर्ण-विचूर्णकर दिया—माया से। पुरुषका सब कुछ प्रकट था, स्त्रीका सब कुछ रहस्यावृत। पुरुष जब उसकी ओर आकर्षित हुआ तब उसे गलत समझकर, जब उससे भागा तब भी गलत

समझकर। उसे स्त्रीको गलत समझनेमें मजा आता रहा, अपनी भूलको सुधारनेकी उसने कभी कोशिश ही नहीं की। इसीलिए वह बराबर हारता रहा। स्त्रीने उसे कभी गलत नहीं समझा। वह अपनी सच्ची परिस्थितिको छिपाये रही। वह अन्ततक रहस्य बनी रही। किसीने कहा है कि दुनियाका अन्तिम शास्त्र मानव-मनोविज्ञान होगा और उस शास्त्रकी अन्तिम समस्या स्त्री होगी। रहस्य बनी रहनेमें उसे भी कुछ आनन्द मिलता था। इसीलिए जीतती भी रही और कष्ट भी पाती रही। अचानक व्यावसायिक क्रान्ति हुई, कृषिमूलक सभ्यता पिछड़ गयी, परिवार और वर्गकी भावना ह्रास होने लगी, नगर स्फीत होने लगे, और वैयक्तिक स्वाधीनता जोर मारने लगी। इस बार सत्यके अनुसन्धानकी आँधी बही। स्त्री रहस्य रहे, यह बात इस युगको पसन्द न आयी, न पुरुषको, न स्त्रीको। पुरुषने भी स्त्रीको समझनेकी कोशिशकी और स्त्री ने भी इस कार्यमें उसे सहायता पहुँचायी और साहित्य नये सुरमें बजने लगा। पुरुषने भी स्त्रीको समझा पर वह अपने हजारों वर्षके संस्कारसे लाचार था, उसने कल्पनाका पुट लगा दिया। गलत समझनेमें उसे मजा आता था, हालाँकि समझनेमें उसने गलती नहीं की। स्त्री भी अपने संस्कारोंसे मजबूर थी, उसने अपनेको थोड़ा-सा रहस्यमें रखना उचित समझा, हालाँकि इस रहस्यको समझानेमें उसने हमेशा गलतीकी। इसीलिए पुरुषका जब स्त्री-चित्रण पढ़ा जाय तो उसकी कल्पनात्मक प्रवृत्तिसे सदा सतर्क रहना चाहिये और स्त्रीका जब स्त्री-चित्रण पढ़ा जाय तो उसकी रहस्यात्मक प्रवृत्तिसे भी सावधान रहना चाहिये। यह गलत बात है कि स्त्रियाँ पुरुषको नहीं समझ सकतीं, और पुरुष स्त्रीयोंको नहीं समझ सकते पर यह और भी गलत बात है कि स्त्री वस्तुतः वैसी ही है जैसी स्त्रीके द्वारा चित्रित है, या वैसी नहीं है जैसी पुरुष-द्वारा कल्पित है।

स्त्रीका हजारों वर्षका अनुभव है कि पुरुष उसे गलत समझता है,

इसलिए साहित्यमें उसका प्रयत्न सदा स्त्रीकी वस्तुस्थितिको स्पष्ट करनेका होता है, पर वह स्त्रीको चूँकि अनजानमें कुछ अज्ञात रखना चाहती है, इसलिए स्वभावतः ही स्त्रीके प्रति होनेवाले अविचारोंके विषयमें उसका रुख अधिकतर शिकायतोंके रूपमें प्रकट होता है। कभी वह समाज-व्यवस्थापर, कभी पुरुष जातिपर, कभी बाह्य घटनाओंपर दोषारोपण करती है। यह एक लक्ष्य करनेकी बात है कि स्त्रीका चित्रित दुःखित स्त्री-पात्र शायद ही कभी अपने अन्तरिक विकासके कारण दुःखी होता हो। उसके दुःखी होनेका कारण भीतर नहीं, बाहर हुआ करता है। अगर लेखिकाकी कल्पना किसी और समाज-व्यवस्थाका सर्जनकर सके तो निश्चित है कि स्त्री-पात्र कभी दुःखी न होंगे!

वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रवेशने स्त्री-साहित्यमें एक नया अध्याय जोड़ा है। अधिकांश स्त्री-चरित्रका चित्रण दुःखीके रूपमें न होता यदि व्यक्तिवाद स्त्री लेखिकाओंका सर्वाधिक जबर्दस्त सुर न होता। अधिकांश स्थलोंपर जहाँ स्त्री-चरित्रके दुःख-पूर्ण होनेका कारण समाज-व्यवस्था या पुरुषकी स्वार्थान्धता होती है वहाँ स्त्रीके भीतर वैयक्तिक स्वाधीनताका जबर्दस्त प्रभाव होता है। पर इस विषयमें पुरुष लेखकोंसे बहुत कुछ सीखना है। मनुष्यके दो प्रधान संस्कार है, व्यक्तिगत सुख-लिप्सा और सामाजिक सहयोग–भाव। यदि वन्य-जन्तुओंकी भाँति पुरुष व्यक्तिगत रूपसे स्वच्छन्द होकर घूमता रहता तो निश्चय जीवनकी लड़ाईमें हार गया होता। वर्गरूपमें रहकर ही उसने संसारके हिंसक जन्तुओंसे मोर्चा लिया है और विजयी हुआ है। पुरुष लेखकमें जब वैयक्तिकताका जोर पूरी मात्रामें होता है तब वह दूसरी प्रवृत्तिको बुरी तरह मसल देता है, पर स्त्री सदा संयत रही है। स्त्री साहित्यका सबसे बड़ा दान आधुनिक साहित्यमें यही है। उसने वैयक्तिकताके मुँहजोर घोड़ेको सामाजिकताकी कठोर लगामसे सयत किया है। इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही हम आगेकी विवेचनामें उतरें तो अच्छा रहे।

(२)

श्रीमती शिवरानी देवीकी कौमुदीको छोड़ दिया जाय तो आलोच्य पुस्तकोंमेंसे अधिकांशकी कहानियोंका मूल उपादान मध्यवर्गके हिन्दू-परिवारकी अशान्तिकर अवस्था है। कौमुदीमें भी यह बात है पर उसको हमने अलग इसलिए रखा है कि उसकी लेखिका इन बातोंको छाँटते समय ठीक वही बातें नहीं सोचती हुई जान पड़तीं जो बाकी पुस्तकोंमें स्पष्ट हुई हैं। सास, जेठानी और पतिके अत्याचार, स्त्रीकी पराधीनता, उसे पढ़ने-लिखने या दूसरोंसे बात करनेमें बाधा इत्यादि बातें ही नाना भावों और नाना रूपोंमें कही गयी हैं। सुभद्रादेवीके 'बिखरे मोती' इस विषयमें सर्वप्रथम हैं। 'पिकनिक' और 'निसर्ग' में ये बातें कुछ गौण-स्थान अधिकार करती हैं। ऐसे प्रसंगोंपर सर्वत्र एक दुःख-पूर्ण स्वर कहानीका परिणाम होता है जो चरित्रके भीतरी विकाससे नहीं बल्कि सामाजिक बाह्य परिस्थितियोंके साथ दुःखी व्यक्तिके असामञ्जस्यके कारण होती हैं। अधिकतर लेखिकाओंकी सहानुभूति सदा बधुओंकी ओर रहती है, वह पति-पत्नीमें पत्नीकी ओर, सास बहूमें बहूकी ओर, जेठानी-देवरानीमें देवरानीकी ओर, जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखिकाओंका पक्षपात अधुनिकाओंके ऊपर है। इसका कारण उनके मनमेंका आदर्श-घटित द्वन्द्व है। वैयक्तिक स्वाधीनताके इस युगमें वैयक्तिकताका आदर्श अपेक्षाकृत तरुण युवक-युवतियोंमें अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। सुभद्रा देवीके चरित्रोंमें इस आदर्शकी जो रूप-प्राप्ति हुई है वह अच्छा उदाहरण हो सकती है, इसलिए उनके सम्बन्धमें अपनी बात कुछ विस्तारके साथ कहनेका प्रयत्न किया जाता है।

सुभद्राजीकी कहानियोंमेंसे अधिकांश जैसा कि ऊपर ही कहा गया है, बहुओंको विशेषकर शिक्षित बहुओंके दुःखपूर्ण जीवनको लेकर लिखी गयी हैं। निःसन्देह वे इसकी अधिकारिणी हैं। उन्होंने किताबी ज्ञानके आधारपर या सुनी सुनायी बातोंको आश्रय करके कहानियाँ नहीं लिखीं वरन् अपने अनुभवोंको ही कहानियोंमें रूपान्तरित किया है। निस्सन्देह उनके

स्त्री-चरित्रोंका चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है फिर भी जो बात अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि उनकी कहानियोंमें समाज-व्यवस्थाके प्रति एक नकारात्मक घृणा ही व्यंग्य होती है। पाठक यह तो सोचता रहता है कि समाज युवतियोंके प्रति कितना निर्दय और कठोर है पर उनके चरित्रमें ऐसी भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नहीं पायी जाती जो समाजकी इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्थाको अस्वीकार कर सके। उनकी पाठक-पाठिकाएँ इस कुचक्रसे छूटनेका कोई रास्ता नहीं पाती। इन कहानियोंमें शायद ही कहीं चरित्रकी वह मानसिक दृढ़ता मिलती हो जो स्वेच्छा-पूर्वक समाजकी बलि-वेदीपर बलि होनेका प्रतिवाद करे। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यन्त निरुपाय-से होकर समाजकी वह्निशिखामें अपनेको होम करके चुपकेसे दुनियाकी आँखोंसे ओझल हो जाते हैं। स्पष्ट ही यह दोष है। परन्तु इस अवस्थाके साथ जब सचमुचकी परिस्थितिकी तुलना करते हैं तो स्वीकार करना पड़ता है कि अधिकांश घटनाएँ ऐसी ही हो रही हैं। सुभद्राजीकी कहानियोंमें जो बात सबसे अधिक आकर्षक जान पड़ती है वह है उनकी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि। अपने प्रिय पात्रोंके अन्तस्तलमें वे बड़ी आसानीसे पहुँच जाती हैं। सुभद्राजीके पात्रोंकी सहज बुद्धि विहारकी अपेक्षा परिहारकी ओर, जूझनेकी अपेक्षा भागनेकी ओर, क्रियाकी अपेक्षा निष्क्रियताकी ओर अधिक झुकी हुई हैं। मनोविज्ञानके पण्डित इसको निगेटिव कैरेक्टर या नकारात्मक चरित्रके लक्षण बताते हैं। अभी हालमें एक समाज-शास्त्रीका विश्वास था कि स्त्रीका हृदय नेगेटिव या नकारात्मक होता है और पुरुषका हृदय पाजिटिव या धनात्मक होता है। समाज-शास्त्रके अभिनव प्रयोगसे यह विश्वास जाता रहा है, पर इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रीका हृदय अधिकांशतः नेगेटिव या नकारात्मक है। जहाँ स्त्री-शिक्षाका अभाव है, पुरुष और स्त्रीकी दुनिया अलग-अलग है, वहाँ तो निश्चित रूपसे स्त्रीमें नकारात्मक चरित्रकी प्रधानता होती है। और समाज स्त्रीके लिए जिन भूषणरूप आदर्शोंका विधान करता है उनमें एकान्त निष्ठा, व्रीड़ा, आत्म-

गोपन और विनय-शीलता आदि नकारात्मक गुणोंकी प्रधानता होती है। इस दृष्टिसे सुभद्राजीकी कहानियोंमें भारतीय-स्त्रीका सच चित्रण हुआ है। वे भारतीय स्त्रीत्वकी सच्ची प्रतिनिधि बन सकी हैं। ऊपर जिस दोषका उल्लेख किया गया है वह सच्ची परिस्थितिके चित्रणरूप गुणसे प्रक्षालित नहीं हो जाता क्योंकि उसमें लेखिकाकी वह असफलता प्रकट होती है जो भारतीय स्त्रीकी यथार्थताके साथ वैयक्तिक स्वाधीनताके आदर्शोंका सामंजस्य न कर सकनेके कारण हुई है।

आदर्शगत सामञ्जस्य जो उपस्थित किया जा सकता है इसका उत्तम उदाहरण शिवरानीजीकी कौमुदीकी कई कहानियाँ हैं। 'आँसूकी दो बूँदें' एक टिपिकल उदाहरण है। सुरेशकी बेवफ़ाई कनकके विनाशका कारण नहीं हो जाती। वह अपने लिए दूसरा रास्ता खोज निकालती है। वह रास्ता सेवाका है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता, अर्थात् उसमें लोभकी जगह विराग होता, क्रोधके स्थानपर भयका प्रादुर्भाव होता, आश्चर्यकी जगह सन्देहका उदय होता, सामाजिकताकी अपेक्षा एकान्त-निष्ठाका प्राबल्य होता, संगमेच्छाकी जगह व्रीड़ाका प्राबल्य होता तो शायद आत्मघात कर लेती। स्पष्ट हो भारतीय-स्त्री नामक पदार्थ उसमें कम है। भारतीय स्त्री आदर्शके अनुकूल चरित्रमें वही गुण होने चाहिए जो कनकमें नहीं पाये जाते। इसलिए कनक भारतीय स्त्री-समाजकी प्रतिनिधि हो या न हो, उस आधुनिक आदर्शकी प्रतिनिधि जरूर है, जो व्यक्ति-स्वाधीनता और सामाजिक-मङ्गलबोधके सामञ्जस्यमेंसे अपना रास्ता निकालता है। सुभद्राजी उन वस्तुओंकी प्रतिनिधि हैं जो उनकी कहानीके उपादान हैं, शिवरानीजी उस आदर्शकी प्रतिनिधि हैं जो इस जातिकी कहानियोंकी जान हैं।

कमला देवीका 'पिकनिक' और होमवती देवीका 'निसर्ग' इन दोनोंके बीचकी चीज हैं। कमला देवी अपने चरित्रों, उनकी क्रियाओं और उनकी परिणतिकी ओर जितनी सयत्न हैं उतनी उन रूढ़ विधियोंकी ओर नहीं जो इन चरित्रों, क्रियाओं और परिणतियोंका नियमन करती हैं। निसर्गमें

होमवती देवी इस ओर अधिक झुकी हैं। इसीलिए कमलादेवीमें जहाँ वैयक्तिक स्वाधीनताके प्रति पक्षपातका स्वर प्रधान हो उठा है वहाँ होमवती देवीमें रूढ़ियोंकी प्रधानताका स्वर। शायद यही कारण है कि कमला देवी अपने चरित्रोंमें अनुभवके द्वारा काट-छाँट (विश्लेषण) करती हैं और होमवती देवी कल्पनाके द्वारा उन्हें मांसल करनेकी चेष्टा करती है।

(३)

प्रायः सभी कहानियोंमें जीवनको समझनेका प्रयत्न किया गया है, पर रास्ता सर्वत्र प्रायः एक ही है। यह रास्ता सामाजिक विधि-निषेधोंके भीतरसे होकर निकाला गया है। प्रत्येक चरित्रकी परिणति और प्रत्येक घटनाका सूत्रपात्र किसी समाजिक विधि-निषेधके भीतरसे होता दिखाया गया है। सम्भवतः यही हमारी बहनोंका विशेष दृष्टिकोण हो। परन्तु उपहासच्छलसे, आनुषंगिक रूपसे या प्रतिषेध्य रूपमें भी जीवनतक पहुँचनेकी तत्तद् विभिन्न दृष्टियोंकी कोई चर्चा होने से यह सन्देह हो सकता है कि उन्होंने या तो जान बूझकर या अनजानमें जीवन को सागोपांग रूप में और सब पहलुओंसे देखनेकी उपेक्षा की है। इस विशेष बातमें भी शिवरानी देवीकी कौमुदी कुछ-कुछ अपवाद है। शेष तीन ग्रन्थ भी कभी-कभी विशेष दृष्टिकोण, उपस्थित करते जान पड़ते हैं, प्रसंग आनेपर उनकी चर्चा की जायगी।

मनुष्य चरित्र जिस रूपमें आज परिणत हुआ है उसके कई कारण है। कई मनीषियोंने कई रूपोंमें इसे समझने या समझानेकी चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोणका समर्थन तबतक नहीं किया जा सकता जबतक पूर्ववर्ती दृष्टिकोणसे इसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित की जाय। इस प्रकार पूर्व मतके निरास-पूर्वक अभिनव मतको स्थापन करनेका नियम है। कहानीकार दार्शनिक पंडितकी भाँति ऐसा नहीं करता पर जीवनके प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे वह कौशलपूर्ण ढंगसे स्थापित करते समय अनभिप्रेत दृष्टिकोणको ओर उपेक्षाका भाव पैदा कर देता है। यह कार्य

वह बहुत कौशलके साथ और बड़ी सावधानीके साथ करता है। हिन्दीमें इस कलाके सबसे बड़े उस्ताद प्रेमचन्द हैं। उनकी कहानियोंमें जीवनको समझनेके अनेक दृष्टिकोण बड़ी खूबीसे व्यक्त हुए हैं और उन सबके भीतरसे अपनी अभिमत दृष्टिकी ओर वे बड़ी कुशलतासे इशारा कर देते हैं। अपने जीवनमें उन्होंने जीवनको समझनेके दृष्टिकोण बदले भी हैं, पर पुरानी दृष्टियोंका खोखलापन दिखाकर। 'कफ़न' नामक कहानी एक उत्तम उदाहरण है। उसके पढ़नेसे जीवनकी कई व्याख्याओंकी निःसारता प्रकट हो जाती है। जान पड़ता है कि लेखकने अपने सामने इन व्याख्याओंको रखकर ही कहानी लिखी है। धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् संसारको एक सामञ्जस्यपूर्ण विधानमें रखनेके लिए सतत प्रयत्नशील है। जो कोई जीव जहाँ कहीं भी जिस किसी रूपमें दिख रहा है वह वहाँ उसी रूपमें आनेको बाध्य था। उसका वहाँ न रहना किसी महान् अनर्थका कारण होता। सब कुछ भगवान्की ओरसे निर्दिष्ट है, पाप और पुण्य, धर्म और कर्म, ऊँच और नीच। दूसरी व्याख्या नये विज्ञानियोंकी है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक टेन इस मतका पोषक है। जो कुछ भी जहाँ कहीं जिस किसी रूपमें दिख रहा है वह तीन कारणोंसे हुआ है—जातिगत विशेषताके कारण, भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितिके कारण, ऐतिहासिक विकास-परम्पराके भीतरसे आनेके कारण। इन तीनोंको अलग-अलग दृष्टिके रूपमें स्वीकार करके भी जीवनकी व्याख्याएँ की गयी हैं। एक प्रकारके पण्डित हैं जो स्वीकार करते हैं कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार, दर्शन-काव्यके मूलमें है; एक दूसरे पण्डित समस्त सद्गुण और असद्गुणोंके कारण आर्थिक परिस्थितिमें देखते हैं। उनके मतसे आर्थिक सुविधा और असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृंखलाके वास्तविक मूलमें है। 'कफ़न' में इस दृष्टिकोणकी ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणके

प्रति उसमें कौशलपूर्ण प्रतिवाद का भाव है। आर्थिक दृष्टि- कोणकी प्रधानता कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यमवर्गके बहुविघोषित प्रेम और करुणाकी कोमल भावनाओंका कोमलपन अत्यन्त खाखला होकर प्रकट हुआ है। आलोच्य कहानियोंमें सामाजिक दृष्टिकोण और मध्यम वर्गीय कोमलताका भाव प्रबल तो जरूर है, (असलमें वे मानों मध्यमवर्गकी कोमल भावनाके प्रति न्याय-विचारकी अपील हैं) पर अगर अविश्वासी चित्त इस अपीलमें विश्वास खो दे तो उनके पास कोई उत्तर नहीं रह जाता। कमला देवी और सुभद्रा देवीकी कहानियोंमें भी कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूपसे भौगोलिक व्याख्याकी ओर प्रवृत्ति दिखाई देती हैं, वे भारतीय स्त्रीमें एक खास विशेषता देखती हैं जो अनेक मानसिक परिणतियोंके लिये जिम्मेवार हैं और होमवती देवीमें कभी वह भाव भी पाया जाता है, जिसे स्त्री और पुरुषकी भेद-विधायक व्याख्या कह सकते हैं, और जिसके अनुसार स्त्री-चरित्रमें कुछ खास गुण ऐसे हैं जो पुरुष-चरित्रमें नहीं हैं और यही खास गुण अनेक परिणतियोंके लिए जवाबदेह हैं। पर इन दृष्टिकोणोंको कहीं भी परिस्फुट करके व्यंग्य करनेका यत्न नहीं किया गया। कौमुदीमें मनुष्यके व्यक्तित्वकी प्रधानता स्वीकार की गयी है। यह व्यक्तित्व परिस्थितियोंको आत्म-समर्पण नहीं करता, प्रतिकूल परिस्थितियोंमें अपना रास्ता निकाल लेता है, काल और समाजके प्रभावसे प्रतिहत नहीं होता। इस प्रकार इस विशेष दृष्टिकोणकी प्रबलताके कारण शिवरानी देवीकी कहानियोंमें सामाजिक और पारिवारिक अवस्थाके कारण जो लोग जीवनको सदा क्लान्त-क्लिष्ट देखते हैं उनका प्रतिवाद बड़े कौशलसे हो गया है। यहाँ भी शिवरानीदेवी और सुभद्रा देवीका विरोध स्पष्ट हो उठता है। सुभद्राजीके चरित्रोंका व्यक्तित्व समाजके कठोर नियमोंके कारण दब जाता है और शिवरानी देवीके चरित्रोंका व्यक्तित्व समाजके नियमोंकी कठोरताको प्रायः दबा देनेमें समर्थ हो जाता है। एकदेवी ने जीवनतक पहुँचनेके लिए जो रास्ता बनाया है उसमें समाजके काँटेदार

बेड़े पद-पदपर बाधा पहुँचाते हैं, दूसरीने इन बेड़ोंको रौंदकर अपने मार्गका निर्माण किया है।

देवियोंके इस विशेष दृष्टिकोणका अर्थ क्या है ?

(४)

आलोच्य कहानियाँ मध्यम श्रेणीके जीवनके उन मार्मिक द्वन्द्व और समस्याओंपर अवलम्बित हैं जो पद-पदपर समाजकी गति निर्धारित कर रही हैं। किसीने कहा है कि कोई कहानी तभी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है जब कि उसकी नींव मजबूतीके साथ उन वस्तुओंपर रखी गयी हो जो निरन्तर गम्भीर भावसे और निर्विवाद भावसे हमारी सामान्य मनुष्यताकी कठिनाइयों और द्वन्द्वोंको प्रभावित कर रही हों। महत्त्वपूर्ण कहानी केवल अवसर-विनोदनका साधन नहीं होती। इस दृष्टिसे ये कहानियाँ महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, पर कहानीपनके अतिरिक्त भी इनके द्वारा हम अपनी सामाजिक समस्याओंकी कुछ ऐसी गुत्थियोंके सुलझानेका मार्ग क्या पा जाते हैं जो आसानीसे समझमें नहीं आता ?

हमने देखा कि ऊपर जिन कहानियों की आलोचनाकी गयी है उनमेंसे अधिकांशकी शिकायत है कि स्त्रियोंके प्रति अन्याय हो रहा है। क्यों ? क्योंकि समाजका संगठन अन्यायपूर्ण है। समाजका ऐसा संगठन क्यों हुआ ? इस प्रश्नपर महिलाएँ कुछ प्रकाश नहीं डालना चाहतीं। स्पष्ट ही हम इस विषयके संशोधनकी इच्छा रखते हुए भी उनकी सहायतासे वञ्चित हैं। अँगरेजी कहावत है कि डिस्क्राइब् (वर्णन) करना सहज है, प्रेस्क्राइब् (उपायनिर्देश) करना कठिन। आलोचक महिलाओंकी प्रवृत्तियोंको यथामति डिस्क्राइब् कर गया, वह प्रेस्क्राइब् क्या करे ? मन्थनसे अमृत भी निकला, गरल भी निकला, तो क्या हुआ ? इसका विनियोग कहाँ हो ?

छूटते ही जो बात पाठकको लगती है वह यह है कि आलोच्य कहानियोंकी लेखिकाएँ परिवार और समाज (एक शब्दमें 'समूह')

परसे अपनी चिन्ता हटा नहीं सकतीं। इस एक बिन्दुपर ही उनका सारा ध्यान केन्द्रित है। वे लोग निश्चय ही हमारे समाजके बहुत ही महत्त्वपूर्ण आधे हिस्सेकी प्रतिनिधि हैं, इसलिए यह कहनेमें कोई संकोच नहीं कि स्त्रीका समूचा ध्यान परिवार और समाजपर है। जब कि पुरुष इस व्यावसायिक युगके दुर्निवार्य प्रवाहमें बहकर नाना घाटोंमें जा लगा है, जब कि व्यक्ति स्वाधीनताने पुरुष की सौ महत्त्वाकांक्षाओंको नितरां उत्तेजित कर दिया है, जब कि आर्थिक चक्रके भीमवेग आघूर्णनने कुटुम्ब की भावनाको ही पीस डाला है, जब कि स्फीतकाय नागरिक सभ्यताने पुरुषकी कोमलताको एकदम कुचल डाला है, स्त्री परिवार, कुटुम्ब और समाजसे और भी जोरसे चिपट गयी है। उसके स्वभावमें ही समूहके प्रति निष्ठा है, उसने अपने रक्तसे समाजमें दलबद्धता पैदा की है, वह जीव-शास्त्रियों-द्वारा निर्दिष्ट उस श्रेणीका जन्तु है जो दल बाँधकर ही रह सकते हैं, जो ग्रिगेरियस (Gregarious) हैं। उसने सहानुभूतिके भीतरसे ही अपनेको बचाया है, अपनी रक्षा की है, आज भी सहानुभूति पर ही उसका विश्वास है। शरीरबलसे (जो पशुकी सम्पति है) वह हार चुकी है, न्याय और सद्भावनापर उसका विश्वास इसीलिए और भी दृढ़ हो गया है।

आधुनिक सभ्यताका सर्वाधिक कठोर वज्रपात स्त्रीपर हुआ है। उसने स्त्रीको न केवल स्थानच्युत किया है, उसको केन्द्रसे दूर फेंक दिया है, बल्कि उसमें विकट मानसिक द्वन्द्व भी ला दिया है। हमारी आलोच्य कहानियोंमें केन्द्रच्युतिकी ओरसे कोई शिकायत नहीं की गयी है, स्पष्ट ही हमारी देवियोंने इस महान् अनर्थको महसूस नहीं किया है, जो व्यक्ति-स्वाधीनताका पुछल्ला होकर आता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार व्यावसायिक-क्रांतिके पीछे व्यक्ति-स्वाधीनता आयी है। परन्तु दूसरी बातको हमारी देवियोंने महसूस किया है। रूढ़ि-समर्थित आदर्श स्त्री और व्यक्ति स्वाधीनतासे प्रभावित आधुनिक-स्त्रीका द्वन्द्व हमारी आलोच्य कहानियोंमें

पदे-पदे दिखाई देता है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है कि इन कहा-नियोंमें एक ही साथ व्यक्तिस्वाधीनता और समाज-निष्ठा दोनोंको स्वीकार कर लिया गया है, मानों इनमें कोई विरोध ही न हो, मानों वे दोनों एक ही चित्रके दो पहलू हों। पर हम अगर इन विरुद्धाभासित कोटियोंमें सामंजस्य खोजना चाहें तो हमें ज्यादा दूर भटकना नहीं पड़ेगा। आधुनिक शिक्षाने स्त्रीमें भी पुरुषकी भाँति महत्त्वाकांक्षाके भाव भर दिये हैं, वह भी पुरुषके साथ प्रतिद्वन्द्विताके लिए निकल पड़ी है, परन्तु पुरुषकी भाँति उसकी स्वाधीनतामें लापरवाही नहीं है। वह वर्तमान परिस्थितियोंके साथ समाजका सामंजस्य चाहती है। वह जो कुछ नया करने जा रही है उसके लिए समाजकी स्वीकृति चाहती है। वह उस नयी समाज व्यवस्थाको गढ़नेके लिए व्याकुल है जो स्त्रीकी महत्त्वाकांक्षाका विरोधी न हो। स्त्रीकी वैयक्तिकता समाजकी स्वीकृति चाहकर समाजकी प्रधानता को स्वीकार कर लेती है। आलोच्य कहानियोंमें इसी स्वीकृतिका प्रयत्न है।

समाजको स्त्रीने जन्म दिया था। दलबद्धभावसे रहनेके प्रति निष्ठा होनेके कारण वह उसी (समाज) की अनुचरी हो गयी। पुरुष यहाँ भी आगे निकल गया। वह समाजसे भागना चाहता था। स्त्रीने अपना हक त्यागकर उसे समाजमें रखा, उसके हाथमें समाजकी नकेल दे दी। पुरुष समाजका विधायक हो गया। इतिहास उलट गया। जमानेके साथ गल-तियोंकी मात्रा बढ़ती गयी; पुरुष अकड़ता गया स्त्री दबती गयी। आज वह देखती है कि उसीके बुने हुए जालने उसे बुरी तरह जकड़ डाला है। वह उसे प्यार भी करती है, वह उससे मुक्त भी होना चाहती है। यही द्वन्द्व है। यही समस्या है। यही विरोधाभास है। वह फिर एक बार इसे अपने हाथों खोल कर फिरसे बुनेगी? उचित तो यही था, पर हमारी देवियाँ इस विषयमें मौन हैं।

केतु-दर्शन

१२ नवम्बरकी ऐतिहासिक रात थी। मैं लगभग तीन बजे उठ गया। धूमकेतुकी धूम मची हुई थी। इसे देखना जरूरी हो गया था। ज्योतिषसे नाता टूट गया है लेकिन पिण्ड नहीं छूटा है। लोग हजार तरहके प्रश्न पूछते हैं। जवाब तो देना ही पड़ता है। सो, बारह नवम्बरकी रातको घरसे बाहर निकल पड़ा। ज्योतिषीकी दुनियामें इस तारीखको एक अद्भुत घटना हुई थी। उस दिन रातके ठीक तीन बजे सारा आकाश आतिशबाजीकी शोभासे उद्दीप्त हो उठा था। नीचे-ऊपर, दायें-बायें ज्वलन्त उल्कापिंडोंकी ऐसी लहालेह वर्षा हुई थी कि देखने वालोंने पृथ्वीके भविष्यकी आशा छोड़ दी थी। यह १९१७ ई० की बात है। तबसे अबतक १२ नवम्बरकी तिथि कितनी ही बार आयी, और गयी लेकिन वैसा दृश्य फिर नहीं दिखाई दिया। १४ नवम्बरको अवश्य ही सिंह राशिके पासके यदा-कदा आकाशबान छूटते नजर आते हैं, पर १२ नवम्बरकी घटना ऐतिहासिक हो गई है। अगर वह ऐतिहासिक न होकर कहीं ज्योतिषिक होती, तो मेरा रात जागना धूमकेतुके बिना भी सार्थक होता। लेकिन जो बीत गयी सो बीत गयी। आज नये धूमकेतु आये हैं, परिव्राजक जातिके पिंड हैं, कौन जाने फिर कभी पधारेंगे या नहीं, देख ही लेना चाहिए। पुराने जमानेके धुरन्धर ज्योतिषी वराह मिहिरने साफ शब्दोंमें इन लोगोंकी चाल-ढालका पता लगानेमें अपनी हार मान ली थी। बृहत्संहितामें कह गये हैं, इन भले मानसोंकी गति और उदय अस्तका पता गणित-विधि से नहीं चलता—'दर्शनमस्तमनं वा न गणितविधिनाऽस्य शक्यते ज्ञातुम्' !! आधुनिक ज्योतिषी इतना नहीं कहते, मगर उनके भी कहनेका कुछ अर्थ इसीके आस-पास

पहुँचता है। सो, केतु-दर्शन दुर्लभ सौभाग्य है। मुझसे भी अधिक चिन्तित मेरे बच्चे थे। छोटे हजरतने स्कूलमें जो कुछ सुना था, उस परसे अनुमान कर लिया था कि रातको कोई लम्बी पूंछवाला लंगूर आनेवाला है। उनका भ्रमोच्छेद भी कर्तव्य था।

जो लोग दीवारों से घिरे और छतसे ढँके कमरोंमें रात काटनेके अभ्यस्त हैं, उनसे यदि कहूँ कि रात जीवन्त वस्तु है तो न जाने क्या कहेंगे। लेकिन जो कोई भी आँख कान रखनेवाला भले आदमी तारा-खचित आसमानके नीचे घण्टे-आध घण्टेके लिए आ खड़ा होगा, वह अनुभव करेगा कि रात सचमुच ही जीवन्त पदार्थ है। वह साँस लेती हुई जान पड़ती है, उसके अङ्ग-अङ्गमे कम्पन होता रहता है, वह प्रसन्न होती है, उदास होती है, धुँधुआ जाती है, खिल उठती है। धीरे-धीरे, लेकिन निस्संदेह, वह करवट बदलती रहती है, सो जाती है, जाग उठती है! हर किसान रातके 'बिहँसने' का अनुभव किये होता है। एक बार में गाँवसे ऐसी ही बिहँसती हुइ रातको उषःकाल समझ कर निकल पड़ा था, और आठ मील पैदल चलनेपर भी जब सूर्योदय नहीं हुआ तब अपनी गलती समझ सका था। ज्योतिषके विद्यार्थीके समान सौभाग्यवान् विरला ही शास्त्रजिज्ञासु होता होगा। उसे आसमानमें आनन्द मिलता है, और यदि मेघाच्छन्न आकाश कुछ भी दिखानेको प्रस्तुत न हो, तो रात की शोभाको कौन छीन सकता है? ज्योतिष अपने प्रेमीको कभी खाली हाथ नहीं लौटने देता।

१२ नवम्बरकी रातको एक उल्का मुझे अस्तगामी एण्ड्रोमीडा नक्षत्र के पास दिखी, मैं पूर्वी आकाशमें देखनेको आशामें था। विराट् शून्यको अगर समुद्र समझें तो उसमें कोटि-कोटि नक्षत्रापुंज कई द्वीप पुजोंके समान हैं। हमारा यह नक्षत्र जगत् एक द्वीपपुंज है। दूसरा जो हमारे सबसे निकटका पड़ोसी द्वीपपुंज है वह भरणी नक्षत्रके समीपवर्ती इस एण्ड्रोमीडाके ही पासकी एक नीहारिका है। इस विराट् ब्रह्माण्डके

अरायजनवीश—ज्योतिषी—लोगोंने हिसाब लगाके बताया है कि इस पड़ोसी नक्षत्रपुंजका जो हमारा सबसे निकटवर्ती नक्षत्र है, उसका प्रकाश पृथ्वी तक सिर्फ नौ लाख वर्षोंमें ही पहुँच जाता है, और जो हमसे बहुत दूर है, उसके प्रकाशके आनेमें कुछ ज्यादा समय जरूर लग जाता है,—सिर्फ ३ अरब वर्ष !—लेकिन फिर भी वह हमारे सबसे निकटवर्ती द्वीप-पुंजकी आखिरी सीमाका ही पत्थर है। उल्का पिंड यद्यपि वहींसे आता दिखाई दिया, मगर मुश्किलसे उसकी ऊँचाई २५-३० मीलकी रही होगी। वह तो केवल हमारी आँखको सुदूर शून्यमें खींच लेनेका एक बहाना मात्र था। ऐसा लगा मानों किसीने अनन्त शून्यमें कुछ देखने या दिखानेके उद्देश्यसे दियासलाई जला दी हो !

पूर्वी आकाशका मुख उज्ज्वल हो गया जैसे प्राची दिग्वधूने हँस दिया हो। शुक्र देवता या वीनस देवी—यवन देवियोंमें सर्वाधिक सुन्दरी—उदय होनेवाली हैं। कालिदास होते तो कह उठते—

अलकसंयमनादिव लोचने
हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् !

ऐसा जान पड़ता है कि प्राची दिशारूपी सुन्दरीने अपने मुखपरसे केशोंको हटा लिया है, और इस प्रकार एकाएक उदभासित मुख मेरी आँखोंको बरबस खींच रहा है। अवश्य मैं निश्चित रूपसे इस बातको नहीं कह सकता, क्योंकि कालिदासने चन्द्रमाकी उदयगूढ़ किरणोंको देखकर ही उल्लास प्रकट किया था। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि शुक्र का उदय भी कम लुभावना नहीं होता, और मेरा विश्वास है कि इस विषयमें कालिदास मुझसे अधिक लोभी थे।

यह हस्त नक्षत्र उदित हुआ। पाँचों अंगुलियाँ साफ दिख रही हैं। इसके पास ही कुहासे-सा दिखाई दिया। धूमकेतुकी यह पूंछ थी। हिन्दी में इसे पुच्छल तारा कहा जाता है इसीलिए मैं भी इस झाड़नुमा पताका को पूँछ कह रहा हूँ। असलमें यह पूँछ नहीं है। प्राचीन आचार्योंने

'पुच्छलतारा'को केतु (पताका) धूमकेतु (धुँएकी पताका) और शिखी (चोटीवाला) कहा है। यही उचित भी है। क्योंकि आधुनिक शोधोंसे प्रमाणित हो गया है कि जिसे 'पूँछ' कहा जाता है वह वास्तवमें शिखा या चोटी है। जब धूमकेतु सूर्यके पास पहुँचता है, तो उसके भीतरके लघुभार गैसीय पदार्थ सूर्यकी ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार धारायन्त्र(फव्वारे)से उर्ध्वमुख धाराएँ निकलती हैं। फिर सूर्यकी प्रकाश राशिका ऐसा दबाव पड़ता है कि वह उसी प्रकार पीछे फिंक जाता है जिस प्रकार पृथ्वीके आकर्षणसे धारायन्त्रकी ऊर्ध्वमुख धाराएँ नीचे लौट आती हैं। यही कारण है कि केतुकी शिखा या पताका केतुपर सूर्यसे उलटी दिशामें रहती है। अब यदि फव्वारेकी धाराएँ पूँछ हैं तो केतुका पिछला हिस्सा भी पूँछ है और यदि वह शिखा है तो यह भी शिखा है। मुझे शिखा कहना ज्यादा अच्छा लगता है पर जो चल पड़ा है उसे मान लेना ही उचित है। गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः। दुनियाका यही नियम है। भारविने अफसोसके साथ कहा था कि दुनियाको सच्चे अर्थसे कोई मतलब थोड़े ही है। जो जीमें आया कह दिया। दुनियाको नाश करनेवाले देवताका नाम रख दिया 'शिव' (कल्याण) और पालन करनेवाले का नाम दे दिया जनार्दन (जनका नाश करनेवाला) ! अब, इसके चक्करमें कौन पड़े ? अपनेसे भरसक गलती नहीं करनी चाहिये—

धियात्मनस्तावदचारु नाचरेत्
जनस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति।
जनावनायोदयिनं जनार्दनं
जगत्क्षये जोऽप्यशिवं शिवं वदन्॥

सो, धीरे-धीरे हस्त नक्षत्रके पास धूमकेतुका उदय हुआ। आहा, क्या सुन्दर पताका (केतु) है ! श्वेत पताका शान्तिका सन्देश वाहक है। कम लोग जानते होंगे कि धूमकेतु कभी-कभी शुभ फल भी देते हैं।

मेरा मन, लेकिन, इस धूमकेतुको देखकर सन्नाटेमें आ गया। यह दक्षिण-पूर्वमें हस्त नक्षत्रके पास उदय, यह झबरीली शिखा, यह लाल-लाल ज्वलन्त नाभि, ये सब तो अच्छे लक्षण नहीं हैं। पुराने पण्डित इससे निश्चित रूपसे सशङ्क हो उठते। ऐसे केतु अग्नि देवताके पुत्र होते हैं, वे भयके कारण होते हैं। और ये क्या एक-दो हैं, सब मिलाके पच्चीस भाई हैं!—

शुकदहनबन्धु जीवकलाक्षाक्षतजोपमा हुताशसुताः।
आग्नेय्यां दृश्यन्ते तावन्तस्तेऽपि शिखि भयदाः॥

न जाने यह भाइयोंमें कौन-सा है। सबसे छोटा भाई तो नहीं होगा, बड़ा भी नहीं है। मैगनिच्युडके हिसाबसे चौथा या पाँचवाँ होगा। खैर, कोई बात नहीं। भयके हेतु होनेमें उतना डर नहीं है। डर यह है कि हस्त नक्षत्रवाला केतु दण्डकारण्यके राजाका नाश कर डालता है!

यह दण्डकारण्य कहाँ है? भाण्डारकरने बताया था कि नागपुर समेत समूचा महाराष्ट्र ही दण्डकारण्य है। पर्जिटरने कहा था कि बुन्देलखण्डसे लेकर कृष्णा नदीके तटका सारा देश दण्डकारण्य कहा जाता था। मगर उन ज्योतिषियोंको मैं बहुत बुद्धिमान नहीं मानता जो ग्रहस्थिति देखकर फल भाखा करते हैं। बुद्धिमान ज्योतिषी वह है, जो फल देखकर ग्रह-स्थितिका पता बतावे। आये दिन ऐसे बुद्धिमान ज्योतिषियोंके विवरण पत्र-पत्रिकाओंमें निकलते ही रहते हैं। जब कोई परिणाम हो जाता है, तो वे ग्रहस्थितिका अध्ययन करते हैं। कुछ तो इतने चतुर हैं कि फल देखकर यह भी कह देते हैं कि किस अतीतमें उन्होंने ऐसे ही फलके होनेकी भविष्यवाणी की थी! बुद्धिमान फलसे वृक्षका पता लगाते हैं। जब किसी अधिपतिके लिए भयका फलादेश शास्त्रमें मिल ही गया है तो अनुमान कर लेनेमें क्या बुराई है! मुझे आशङ्का हुई कि दण्डकारण्य कहीं हैदराबादकी रियासत तो नहीं है। बुरा मैं किसीका नहीं सोचना चाहता। भगवान् करें, दण्डकारण्य भूलोकमें कहीं हो ही नहीं!

मगर जाने भी दीजिये। धूमकेतु बिलकुल शुक्रके पास है। पहलेके ज्योतिषी लोग मानते थे कि ये तीन जातिके हैं—दिव्य, अन्तरिक्ष और भौम। नये ज्योतिषी भी तीन प्रकारके मानने लगे थे—दीर्घवृत्तमें घूमनेवाले, परवलयमें विचरनेवाले और अतिपरवलय-मार्गमें रमनेवाले। दीर्घवृत्त वालोंका कुछ हिसाब लग जाता है क्योंकि दीर्घवृत्तकी एक सीमा होती है, परन्तु परवलय और अतिपरवलयमें घूमनेवाले एकदम रमतेराम होते हैं। इधरसे आये उधर निकल गये। अनुमान किया गया था कि दीर्घवृत्तवाले भी पहले रमतेराम ही थे, लेकिन सयोगवश इस दुनियाके आकर्षणके चक्करमें पड़ गये हैं, इस आकर्षणको माया न काट सकनेके कारण ही इन्हें घरबारीका भेष धारण करना पड़ा है। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि ये लोग सूर्यके परिवारमें एकदम बिराने हैं। "बहुत दूरसे अचानक सूर्यके इलाकेमें आ जाते हैं। किसी प्रकार एक बार सूर्यके चारों ओर प्रदक्षिणा समाप्त करके तत्काल विरागी होकर निकल पड़ते हैं!" परन्तु अब, सुना है कि ज्योतिषियोंने अपना मत बदल दिया है। वे मानने लगे हैं कि वस्तुतः सभी केतु दीर्घवृत्तमें ही घूमते हैं। कोई देर आता है, कोई सबेर, लेकिन आते सब हैं। सब मायामें फँसे हैं, वैरागी कोई नहीं। मगर मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ।

कुछ थोड़ेसे धूमकेतुओंकी गतिविधिका पता लग सका है। एक हैली धूमकेतु है, जो सन् १९१० ई० में अन्तिम बार दिखा था। हैली नामके ज्योतिषीने पहले पहल हिसाब लगाकर देखा था कि यह ७६ वर्षमें लौटता है, और इसका मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। तबसे यह कई बार देखा गया है और इसका नाम ही 'हैली धूमकेतु' पड़ गया है। १९१० ई० की १९ वीं मईको यह सूर्य और पृथ्वीके बीचमें आ गया था। २० मईको ता यह पृथ्वीके बहुत नजदीक आ गया। सूर्यके सामने आनेपर यह और भी तेजस्वी बना। इसकी पूँछ—अर्थात् शिखा—उदयगिरिसे अस्तगिरि तक पहुँचती थी। उस चौड़ी उज्ज्वल शिखाको देखकर एक कविने आकाश

सुन्दरीकी उज्ज्वल सीमान्त रेखाका सौन्दर्य अनुभव किया था। एक दिन तो हमारी यह पृथ्वी उसकी पूँछके भीतरसे निकल गयी। पढ़े लिखे—अर्थात् समझदार समझे जानेवाले—लोग घबरा गये थे। प्रतिक्षण कुछ घट-पड़नेकी आशंका थी। त्राहि-त्राहि मच गयी थी। लेकिन बादमें मालूम हुआ कि विधाताने पृथ्वीको काफी मजबूत बनाया है, धूमकेतु इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते—उनकी पूँछ तो बिलकुल नहीं! १९१० ई०में पृथ्वी बच गयी, और उम्मीद की जानी चाहिये कि १९८६ ई० में भी बच ही जायगी। अगर नहीं बच सकी, तो उसका कारण धूमकेतु नहीं होगा, मनुष्यके बनाये हुए मारणास्त्र होंगे। खैर।

अब यह जो 'हैली' नामक धूमकेतु है, वह बराबर इसी प्रकार देखा गया है। ८७ ई० पू० से लेकर १९१० ई० तक वह प्रति ७६ वें वर्ष देखा गया है, और संसारके इतिहासमें कहीं न कहीं उसकी चर्चा अवश्य मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि पाँचवीं शताब्दीके मध्यभागके आस-पास यह भारतवर्षमें भी दिखा था। पराशर नामक ज्योतिषीने उसका नाम 'चलकेतु' दिया था। संयोगवश उसी समय हूण दस्युओंका बड़ा घोर आक्रमण हुआ था, और समूचा मध्यदेश विध्वस्त हो गया था। पराशरका विश्वास था कि यह केतु १५०० वर्ष बाद उदित होता है। पराशरके आधारपर वराह मिहिरने अपनी बृहत्संहितामें लिखा है कि चलकेतु पश्चिम दिशामें उदित होता है, उसकी शिखा दक्षिणकी ओर झुकी होती है, और अंगुल भर ऊँची दिखती है। जैसे जैसे वह शिखा उत्तरकी ओर झुकती जाती है, वैसे वैसे बढ़ती जाती है (यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि केतुकी शिखा सूर्यके निकट आनेसे बढ़ती जाती है), फिर तो वह सप्तर्षियोंको ध्रुवको और अभिजित् नक्षत्रको छूती हुई आकाशके आधेसे भी अधिक भागको ढँक लेती है। यह प्रयागसे लेकर अवन्तीतकके सम्पूर्ण मध्यदेशका नाश कर डालता है, और दस या अठारह महीनेतक प्रजा रोग और दुर्भिक्षका शिकार हो जाती है। चलकेतुका यह विवरण इस

धूमकेतुके अन्य प्राप्त विवरणोंसे मिल जाता है।

तो प्रकृत बात यह है कि हमारा नया धूमकेतु शुक्रके पास दिखाई दे रहा है। पता नहीं यह कोई पुराना परिचित केतु है, या नया उग गया है। ज्योतिषी लोग इसकी जात पाँत जाननेमें लगे हैं, जल्दी ही इसकी जन्मपत्री तैयार हो जायगी। एक बार एक ऐसा ही केतु बुधके पास पहुँच गया था। वह ज्योतिषियोंका पहचाना हुआ था। बुधने आकर्षणकी ऐसी नकेल खींची कि विचारेका रास्ता ही गड़बड़ा गया। जहाँ ज्योतिषी लोग उसका इन्तजार कर रहे थे, वहाँ पहुँचा तो गया मगर जरा देरसे। ज्योतिष शास्त्रके बारेमें पहले ही कह चुका हूँ कि वह कभी अपने जिज्ञासुको खाली हाथ लौटने नहीं देता। इस बार जो इस मार्गभ्रष्ट धूमकेतुके आनेमें देर हुई उससे ज्योतिषियोंको लाभ ही हुआ। हिसाब लगाकर उन्होंने बुधका वजन निकाल लिया। कई बार पता लगा था कि पृथ्वीकी बराबरी करनेके लिए बुधको इक्कीस गुना भारी होना पड़ेगा। मैं सोचने लगा था कि इस बार भी कुछ नया गुल खिलेगा क्या! अभी तो कुछ पता नहीं चलता है।

क्या केतुओंकी संख्या जानी जा सकती है? गर्गने न जाने किस प्रकार गणना करके यह संख्या १०१ बतायी थी, पराशरने एक सहस्र। मौजी ज्योतिषी नारदने कहा था—है तो एक ही, लेकिन बहुरूपिया है! होगा!

मैं इस प्रभातकल्पा शर्वरीके उपान्त्य भागमें आश्चर्यके साथ धूमकेतुको देख रहा हूं। मनुष्य कितना जानता है! इस विपुल ब्रह्माण्ड-निकायमें वह कैसा क्षुद्र जीव है, फिर भी कितनी शक्तिका स्रोत है वह! वह धूमकेतुसे पहले डरा था, फिर घबराया था, लेकिन अब उसने इसका भी रहस्य बहुत कुछ जान लिया है, और भी जाननेके लिए हाथ पैर मार रहा है। मनुष्य हारेगा नहीं। निराश होनेकी कोई बात नहीं है। जो लोग केतुको देखकर ही घबरा गये हैं, उन्हें समझना चाहिये कि मनुष्यकी बुद्धिको जिस शक्तिने इतनी महिमा दी है, वह उसे केतुसे हारने नहीं देगी।

ब्रह्माण्डका विस्तार

भारतवर्षके प्राचीन ज्योतिषियोंने ब्रह्माण्डका विस्तार बतानेका प्रयत्न किया है। ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, भास्कराचार्य, चतुर्वेदाचार्य प्रभृति ज्योतिषियों ने बताया है कि आकाशकी कक्षा १८७१२०६९२०००००००० योजनोंकी है। परन्तु प्राचीन भारतमें यह एक विवादास्पद ही विषय रहा है कि यह लम्बी संख्या जिसे आकाश-कक्षा (या संक्षेपमें ख-कक्षा) कहते हैं वस्तुतः क्या चीज है। यह क्या वही वस्तु है जिसमें रातको फैले हुए असख्य नक्षत्र और ग्रह विचरण करते दिखाई देते हैं, या कुछ और ? कुछ विद्वानोंका मत था कि यह ब्रह्माण्डकी परिधि है। भास्कराचार्यने अपनी कविजनोचित भाषामें इनके मतको "ब्रह्माण्ड-कटाह-सम्पुट-तट"का मान बताया है। हिंदू शास्त्रोंके अनुसार ब्रह्माण्ड दीर्घवर्तुलाकर पिण्ड है। 'ब्रह्माण्ड' शब्दमें ही इसके अण्डाकार होनेकी ओर इशारा किया गया है। यह मानों दो विराट् कड़ाहोंको उलटकर जोड़ दिया गया है, जिसकी परिधिका सर्वाधिक विस्तार उस स्थानपर है जहाँ दोनों कड़ाह मिलते हैं। इसीलिए ब्रह्माण्डकी परिधि यह 'कटाह-सम्पुट तट' ही हुआ। इस प्रकार इस श्रेणीके विद्वान् ऊपरकी लम्बी संख्याको ब्रह्माण्डकी परिधि ही मानते थे। परन्तु पौराणिक विद्वान् और ही कुछ समझते थे। उनके मतसे यह उदयगिरि और अस्ताचलके बीचका अन्तर है। सूर्यको प्रति दिन इतनी दूरी तै करनी पड़ती है। भास्कराचार्य कहते हैं कि जिन विद्वानोंके लिए खगोल इतना सहज हो गया है जितना हथेलीपर रखा हुआ आँवलेका फल वे इन दोनों बातोंको स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि सूर्यकी किरणें जहाँतक पहुँच सकती हैं उस समूचे गोलकी परिधि इतनी बड़ी है अर्थात् यह उस आकाशकी सीमा है जिसे आदमी सूर्य-

किरणोंकी सहायतासे देखता है। इसी महाकाशमें हम ग्रहों और नक्षत्रोंको घूमते देखते हैं। यह विश्वकी सीमा नहीं है, और न यही कहा जा सकता है कि भारतीय ज्योतिषियोंके परिकल्पित नक्षत्र-लोकको यह कक्षा है। क्योंकि पृथ्वीके ऊपर इन पण्डितोंने जो सात वायुके स्तर कल्पित किये हैं उनमेंसे अनेक स्तर इसके ऊपर आ जाते हैं। ये सात स्तर इस प्रकार हैं—आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह और परावह। इनमें आवह नामक स्तर वह है जो हमारी पृथ्वीके ऊपर बारह योजनतक लिपटा हुआ है। इसीमें मेघ और विद्युत् आदि हैं। इसके बाद बहुत दूरतक प्रवह वायुका क्षेत्र है जो नियमित रूपसे पश्चिमकी ओर बड़े वेगसे बहता रहता है और ६० घटी या २४ घण्टेमें एक पूरा चक्कर लगा देता है। इस वायुके झकोरेमें पड़कर पृथ्वीके ऊपरके सातों ग्रह (क्रमशः चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति और शनि) तथा समस्त नक्षत्रगण नियमित रूपसे २४ घण्टेमें पृथ्वीकी एक परिक्रमा कर आते हैं। चूँकि नक्षत्रोंमें, इन पण्डितोंके मतसे, गति नहीं है, इसलिए वे प्रवह वायुके झकोरेसे ठीक समयपर अपने-अपने स्थानोंमें आ जाते हैं, पर ग्रहोंमें गति है, और वह भी प्रवह वायुकी उल्टी ओर, इसलिए ग्रहगण २४ घण्टेमें ठीक उसी स्थानपर नहीं आ पाते जहाँसे वे चले थे। यही कारण है कि हम ग्रहोंको सदा पूर्वकी ओर खिसकते देखते रहते हैं। ऊपरकी संख्या प्रवह वायुके अन्तर्गत पड़नेवाले क्षेत्रके बाहर नहीं हो सकती। अभी उसके ऊपर और भी पाँच वायु-स्तर हैं जिनके विषयमें हमें कुछ ज्ञात नहीं।

परन्तु भास्कराचार्य प्रभृति ज्योतिषी व्यवहारवादी थे। वे उस वस्तुके सम्बन्धमें कोई बहस नहीं करना चाहते थे जिसकी उनके गणितमें कोई जरूरत ही न हो। इसीलिए उन्होंने ऐसी बहुत-सी बातोंका विचार छोड़ दिया है जिनका उनके मतमें कोई प्रयोजन नहीं है। इस ब्रह्माण्ड-परिधि-सम्बन्धी विचारको उन्होंने बहुत महत्त्व नहीं दिया है। वे कहते हैं कि हमें यह ठीक नहीं मालूम कि ऊपरकी लिखित संख्या ब्रह्माण्डकी परिधि-सम्बन्धी

है या नहीं। किसीने ब्रह्माण्डकी सीमा कभी नापी नहीं। प्रमाणके अभावमें हम किसी मतको मानना नहीं चाहते। पर ब्रह्माण्ड इतना बड़ा हो या नहीं, असली बात यह है कि कल्पभरमें सभी ग्रह इतने ही योजन चला करते हैं। पूर्वाचार्योंने ग्रहके कल्पभरमें तै किये हुए योजनात्मक विस्तारको ही 'खकक्षा' नाम दिया है। यहां तक यह ठीक उपयुक्त बात है। यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू ज्योतिषियोंके मतमें सभी ग्रह दूरीमें बराबर ही चलते हैं। फिर भी कोई ग्रह तीव्र गतिसे चलता हुआ और कोई मन्द गतिसे चलता हुआ इसलिये दिखाई देता है कि उनके घूमनेके जो मार्ग हैं वे बराबर नहीं हैं। छोटे वर्तुल मार्गमें चलनेवाला ग्रह बड़े वर्तुलवालेके बराबर ही चलता है, पर पृथ्वीपर देखनेवालेकी दृष्टिमें वह बड़े वर्तुलवालेकी अपेक्षा बड़ा कोण बनता है और इसी लिए अधिक चलता दिखाई देता है।

यह जो भास्कराचार्यका कथन है कि 'ब्रह्माण्ड इतना बड़ा हो या नहीं—"ब्रह्माण्ड मेतन्मितमस्तु नो वा"—यही आधुनिक युगके पूर्ववर्ती समस्त जगत्के ज्योतिषियोंकी बात थी। यूरोपके ज्योतिषियोंमें भी ब्रह्माण्डके विषयमें इसी प्रकारकी उपेक्षा पाई जाती थी। यूरोपमें यद्यपि बहुत पुराने जमानेमें एरिस्टार्कस नामक ज्योतिर्विदने (ई० पू० २५०) कहा था कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, बल्कि अपनी धुरीपर घूम रही है और इस प्रकारका मत भारतीय आर्यभट आदि ज्योतिषियोंने भी प्रकट किया था पर वस्तुतः यह धारणा सदा बनी रही कि पृथ्वी ही ब्रह्माण्डके केन्द्रमें है। टालेमीने (१५० ई०) जो ग्रहोंका क्रम नियत कर दिया था, जो हूबहू भारतीय ज्योतिषियोंके निर्धारित क्रमके समान ही है, वही उस दिनतक यूरोपमें मान्य समझा जाता था। सन् १५४३ ई० में जब कोपरनिकसने सिद्ध किया कि वस्तुतः पृथ्वी केन्द्रमें नहीं है, सूर्य ही केन्द्रमें है और पृथ्वी अन्यान्य ग्रहोंकी भाँति सूर्यकी परिक्रमा कर रही है तो विचारोंकी दुनियामें एक जबर्दस्त क्रान्ति हुई। यह क्रान्ति केवल विचारोंमें हुई। वस्तुतः ज्योतिष सम्बन्धी तथ्य बहुत दिनोंतक बदले नहीं। पर विचारोंकी दुनि-

यामें जो क्रान्ति हुई उसने प्राचीन विश्वासोंको बुरी तरह झकझोर दिया।

मनुष्य अबतक अपनेको ब्रह्माण्डके केन्द्रमें रहनेवाला सर्वश्रेष्ठ प्राणी समझता था, अब नये शोधोंने सिद्ध कर दिया कि इस अनन्त ब्रह्माण्डमें उसकी पृथ्वी बालूके कणके बराबर भी नहीं है। विश्व बहुत बड़ा है, ब्रह्माण्ड असीम है, पृथ्वी और अन्यान्य ग्रहोंके सम्बन्धमें जानना बहुत अधिक जानना नहीं है। अगर समस्त ग्रहोंका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त भी हो जाय तो वह विराट् ब्रह्माण्डके अज्ञात रहस्योंकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनुष्यका ध्यान ग्रहोंपरसे हटकर नक्षत्रोंपर गया। रातको झिलमिलाते हुए ये असंख्य छोटे-छोटे प्रकाश-बिन्दु क्या है, वे कितने हैं, कितनी दूरीमें फैले हुए हैं—ये प्रश्न बार-बार मनुष्यके मानसपटलपर आघात करने लगे।

दूरबीनके आविष्कारने इस विचारको और भी आगे ठेल दिया। खाली आँखोंसे जितने नक्षत्र दिखाई देते हैं उसके कई गुना अधिक दूरबीनकी सहायतासे दिखने लगे। जिसको पौराणिक पण्डितोंने आकाश-गंगा कहा था, उसमें कोटि-कोटि नक्षत्रपुञ्ज दिखाई पड़े। गणित-शास्त्रकी उन्नतिके साथ ही साथ इनके परिमाण और विस्तारका रहस्य कुछ प्रकट होता गया। ज्योतिषीने पथरायी आँखोंसे इस विश्वकी अनन्तताको देखा, उसका कौतूहल बढ़ता गया। प्राचीन ज्ञान उसे बिलकुल नगण्य जँचा। इसी बीच फोटोग्राफीका आविष्कार हुआ। जो बात दूरबीनकी भी शक्तिके बाहर थी उसे फोटोग्राफीके प्लेटने पकड़ना शुरू किया। नक्षत्र-गुच्छोंसे ठसाठस भरे हुए विश्वकी नाप-जोख ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, मनुष्यकी जिज्ञासा भी बढ़ती गयी। ज्योतिषका, गणित शास्त्र और पदार्थ-विज्ञानसे बड़ा गहरा सम्बन्ध है। तीनोंकी उन्नति एक दूसरेको आगे ढकेलती गयी। अन्तमें, पृथ्वीके निर्माणसे लेकर विश्वकी परिणतितकमें एक सर्वमान्य नियमकी खोज लगायी जा सकी। खुली आँखोंसे रात्रिकालीन आकाश जितना ही मनोरम दिखता था, बुद्धिकी आँखोंसे वह उतना ही रहस्य-मय दिखा।

न जाने किस अनादिकालके एक अज्ञात मुहूर्तमें सूर्यमण्डलसे टूटकर यह पृथ्वी नामक ग्रह-पिण्ड सूर्यके चारों ओर चक्कर मारने लगा था। उसमें नाना प्रकारके ज्वलन्त गैसोंका आकर था। इन्हींमें किसी एक या अनेकके भीतर जीवतत्त्वका अंकुर वर्तमान था। पृथ्वी लाखों वर्षतक ठण्डी होती रही, लाखों वर्षतक उसपर तरल-तप्त धातुओंकी लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष तक उसके बाहर और भीतर प्रलयकाण्ड चलता रहा और जीवतत्त्व स्थिर, अविक्षुब्ध भावसे उचित अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। अवसर आनेपर उसने समस्त जड़ शक्तिके विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—अंकुररूपमें। सारी जड़ शक्ति अपने प्रबल आकर्षणका सम्पूर्ण वेग लगाकर भी उसे नीचे नहीं खींच सकी। सृष्टिके इतिहासमें यह एकदम अघटित घटना थी। अब तक महाकर्षके विराट् वेगको किसीने प्रतिहत नहीं किया था। जीवतत्त्व निर्भय अग्रसर होता गया। वह एक शरीरसे दूसरेमें—सन्ततिके रूपमें संक्रमित होता हुआ बढ़ता ही गया। अनवरुद्ध, अश्रान्त ! मनुष्य उसीकी अन्तिम परिणति है—देशमें सीमित, कालमें असीम, शरीरसे नाशवान्, आत्मासे अविनश्वर। वही मनुष्य इस समस्त विश्व ब्रह्माण्डकी नाप-जोख करने निकला है। विराट् ब्रह्माण्ड-निकायका दूरत्व और परिमाण, उनके कोटि-कोटि नक्षत्रोंका अग्निमय आवर्तनृत्य बहुत विस्मयकारी बातें हैं, सन्देह नहीं ; परन्तु मनुष्यकी बुद्धि और भी विस्मयजनक है। उन समस्त ब्रह्माण्डोंसे अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली, अधिक आश्चर्य-जनक। अत्यन्त नगण्य स्थानमें रहकर, नगण्यात् नगण्यतर कालमें बासकर वह इस विपुल ब्रह्माण्डको जाननेकी इच्छा रखता है और सफल होता जा रहा है। वह विश्वकी अजेय शक्ति है। ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है यह बड़ा सवाल नहीं है, मनुष्यकी बुद्धि कितनी बड़ी है, यही बड़ा सवाल है। हमारी आस्था उसपर हो गयी है तो कोई बात नहीं कि ब्रह्माण्ड इतना ही बड़ा है या नहीं—ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा।

वह चला गया !

वह चला गया। वह ब्रह्मचर्यका विजय-केतन, धर्मका मूर्तिमान् विग्रह, संयमकी धवल पताका, वैराग्यका प्रसन्न वैभव, सत्यका अवतार, अहिंसाका रूप, प्रेमका आकर, कीर्तिका कैलाश, भक्तिका उल्लास हमारे बीचसे चला गया। इतिहासने इतनी क्षीण कायामें इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था। धरित्रीने इतने अल्प अवकाशमें इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था; मनुष्यताने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्याका शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारिधारासे आर्द्र है। संसारके इस कोनेसे उस कोनेतक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है—वह चला गया, गांधी चला गया !!

वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा; वह जिधर झुका, प्रेम बरस पड़ा; वह जिधर चला, जमाना झुक पड़ा। वह शक्तिका भण्डार था, क्योंकि वह सच्चे अर्थमें भक्त था। उसने अपने 'रामको' अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था इसीलिए वह सब-कुछको अपना सका था। भागवतमें कहा है कि मनुष्य जितना भगवान्‌को दे देता है, उतना ही उसका अपना होता है, आईनेके सामने जितना मुख बढ़ा दिया जाता है, उतनेकी ही आभा लौटकर आ जाती है। बाकीका कोई अर्थ नहीं। वह निष्फल होता है। जो जितना देता है, उतनेका ही सच्चा अधिकारी होता है—

यत् यद् जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मनः प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।

गांधीजीने अपना सब कुछ—ज्ञान, कर्म, भक्ति, मन, प्राण, वाणी, विद्या, बुद्धि, विभव—सब कुछ 'रामको' दे दिया था, इसीलिए इतना

उनका अखण्ड अधिकार था। दुनिया हैरान होकर सोचती है कि इतनी शक्ति उन्हें मिली कहाँसे ? वह बार-बार धोखा खाकर भी नहीं सीखती। वह मिट्टीके ठीकरोंकी व्यर्थता बार-बार देखकर भी नहीं समझती। वह बाह्य आवरणोंकी नीरसता बार बार अनुभव करके भी उनसे चिपटती है। हाय, पानीमें बसनेवाली मछलीको प्याससे छटपटाते देखना कितना करुणाजनक हास्यास्पद व्यापार है ! कबीरदासने इस अन्धे संसारको इसी प्रकार छटपटाते देख करुण की हँसीमें अपना दुःख प्रकट किया था— 'पानी बिच मीन पियासी, मोहि देखि-देखि आवै हाँसी !!' शक्तिका उत्स बाहर नहीं है, वह भीतर है। कब संसार इस महा सत्यको समझेगा ? बुद्धने अपने जीवनसे इस ओर ही संकेत किया, ईसाने प्राणोंकी आहुति देकर यही सिद्ध किया, और अब गांधीने भी चकित संसारको इसी विशाल सत्य की ओर उन्मुख किया है।

मनुष्यकी सेवा ! वह मनुष्यका सर्वोत्तम सेवक था।

मनुष्य क्या है ? आहार-निद्राके साधनोंसे प्रसन्न होनेवाला, घर-द्वारको जुटाकर खुश रहनेवाला, कौड़ी-कौड़ी जोड़कर माया बटोरनेवाला मनुष्य भी मनुष्य ही है, पर यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य पशुका ही विकसित रूप है। पर इसीलिए मनुष्य पशु ही नहीं है। पशुसामान्य धर्म उसमें रह गये हैं। उनकी पूर्तिसे वह संतुष्ट भी होता है, पर यही सब कुछ नहीं है। वह पशुसे भिन्न है, पशुसे उन्नत है। क्योंकि उसमें संयम और तप करनेकी शक्ति है। इन्द्रिय-परायणता पशुसामान्य धर्म है। जितेन्द्रियता मनुष्यकी अपनी विशेषता है। गांधीजीने मनुष्यको इस स्तरपर ले जानेका प्रयत्न किया था। यही मनुष्यकी सेवा है। उसे अन्न मिलना चाहिये, उसे वस्त्र मिलना चाहिये, उसे ज्ञान मिलना चाहिये; ठीक है, पर यहांतक आकर रुकना मनुष्यकी सेवा नहीं है। मनुष्यको संयम मिलना चाहिये, जितेन्द्रियता प्राप्त होनी चाहिये, तपस्याकी योग्यता प्राप्त होनी चाहिये। संयम सबका मूल है। दुनियामें भली बात बतानेवाले लोगोंकी कमी नहीं

है। व्रतकी, तपकी, शास्त्रकी, अध्ययनकी, धर्मकी, जपकी, समाधिकी, मोक्षकी चर्चा किसने नहीं सुनी ? कौन-सा धर्म है जिसके शास्त्रों और आचार्योंने इनकी चर्चा अपने अनुयायियोंसे नहीं की ? पर सुनता कौन है ! पानीपरकी लकीरके समान ये बातें उत्पत्तिके साथ ही विनाशकी ओर बढ़ जाती हैं। कोई सुनता नहीं। क्यों नहीं सुनता ? प्रह्लादने ठीक ही कहा था कि जो इन्द्रियोंको काबूमें नहीं कर सका, जिसे जड जगत्‌के प्रलोभन निरन्तर खींच रहे हैं, जो दम्भमें ही जीवन बिता देता है वह इन बड़ी बातों की ओर नहीं जाता। जाता वही है जो संयमी होता है, जो अपनेको सँभाल सकता है, जो सत्यवादी होता है। अजितेन्द्रियकी प्रवृत्ति उधर नहीं होती-

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥

—भागवत ७-९-४६

हाय, जो महापुरुष चला गया उसने इस रहस्यको समझा था। प्राण देकर भी उसने इस देशके जनसमुदायको बताना चाहा था कि बड़ी साधनाकी पहली शर्त है संयम, आत्म-नियमन। उसने भुजा उठाकर कहा था कि मनुष्यकी सेवाका लक्ष्य है मनुष्यको पशुसामान्य धरातलसे ऊपर उठाना, इन्द्रियवश्यताके पङ्कसे उबारना, आहार-निद्राके साधनोंकी अपेक्षा बड़ी बात सोचनेकी आदत डलवाना।

वह मनुष्यकी सेवाको उसके सर्वोच्च स्तरपर ले जाना चाहता था। नरकी सेवा नारायणकी सेवा है। मनुष्यको तापतप्त अवस्थासे उबारना अखिलात्मा पुरुषकी सबसे बड़ी आराधना है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

—भागवत ८ ७ ४४

वह इस स्पर्धा और कुटिलताकी घोर अन्धरात्रिमें चन्द्रमाकी भाँति स्निग्ध आलोक-विस्तार करता रहा। उसने जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्यकी सेवाका व्रत लिया था, क्योंकि वह अखण्ड सत्यका द्रष्टा था। कबीरकी भाँति उसने समझा था कि जो व्यक्ति सरबसको छोड़कर खण्डका रस चखने जाता है वह तृप्त नहीं होता—

सरबस छोड़ि खण्ड रस चाखा तृष्णा ताप नसानी।

जो स्वयं तृप्त नहीं हो सका वह दूसरोंका ताप क्या दूर करेगा? गांधी इस कण्टकाकीर्ण भवकाननका पारिजात था, इस स्नेहशून्य मरुका न्तारका मानसरोवर था, इस ताप-तप्त संसारमें बरसनेवाला सजल जलधर था। हाय, हतभाग्य भारतवर्ष, तू आज शोच्य है। तुझे वह रत्न मिला था, जो देवताओंको भी नहीं मिलता। गांधी भारतवर्षके अनेक युगोंके सञ्चित पुण्यका मधुर फल था। आज देश-जननीकी गोद सूनी है, आज वह सचमुच दरिद्र है।

पर धन्य है वह देश, जिसने गांधीको पैदा किया; धन्य है वह भूमि, जिसने गांधीको धारण किया; धन्य है वह जनसमाज, जिसके लिए उसने अपनेको निःशेष भावसे दे दिया। गांधीका आना मङ्गलका सूचक था, जाना किसी महान् भविष्यका सूचक बने। भारतजननी बन्ध्या नहीं है। गांधी गया नहीं है। मनुष्यता थकी नहीं है। यद्यपि चित्त आज उन्मथित है, वाणी रुद्धचेष्ट है, हृदय व्याकुल है, परन्तु गांधीका नाम ही आशाका सञ्चार करता है। निराश होनेकी कोई बात नहीं है। वह चला गया—उसका केवल बाह्यरूप ही गया है। वह रह गया है—उसका सम्पूर्ण अस्तित्व रह गया है। अन्तरके अन्तरसे आवाज आ रही है, वह गया नहीं है, वह अनन्त शक्तियोंका ज्योतिर्मय पुरुष हृदयके गम्भीरतम गह्वरमें आज भी वर्तमान है। हाँ, वह गया नहीं है। यद्यपि विश्वास है कि वह रह गया है, तथापि मन मानता नहीं। कहींसे रुद्ध क्रन्दन बार-बार फट पड़ना चाहता है—वह चला गया, हाय, वह चला गया !!

साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती हैं

दिल्लीमें होनेवाली हिन्दी-परिषद्के निमन्त्रणपर जब मैं बोलपुरसे दिल्लीके लिए रवाना हुआ, तो मेरे मनमें कोई स्पष्ट धारणा न थी कि मैं किस कार्यके लिए जा रहा हूँ। मुगलसरायतककी यात्रा तो रातमें ही समाप्त हो गयी। दिन खुलनेके साथ ही साथ हमारी ट्रेन उस प्रदेशके वायुमण्डलको प्रकम्पित करती हुई आगे बढ़ने लगी जिसे हिन्दी-भाषाका मर्मस्थान कहा जा सकता है। ३५ मील प्रति घण्टेके वेगसे ट्रेन भागती ही गयी, भागती ही गयी; परन्तु इस मर्मस्थलीय प्रदेशका कहीं ओर-छोर न मिला। रास्तेमें एक ढेला भी इस विराट् मैदानके बीच इस प्रकार स्थित नहीं दिखाई पड़ा, जो हमारी ट्रेनका रास्ता रोकता। इस थका देनेवाली एकता और व्याकुल कर देनेवाली एकघृष्टताका प्रभाव जरूर मेरे मस्तिष्क-पर पड़ता रहा होगा। मैं अनजानमें इस विराट प्रदेशकी बात जरूर सोचता रहा हूँगा। इसीलिए जब कभी छोटी-मोटी नदियोंके पुलपरसे मेरी गाड़ी 'घड़-घड़—सर्रर्' करती हुई निकल जाती थी, तो थोड़ी देरके लिए मैं उदास होकर अपनी पुस्तकी विद्याकी आलोचना करने लगता था। मेरे मनमें एक-एक करके हिन्दीके विरुद्ध लगाये गये अभियोग आते जाते, जिनमेंसे अधिकांश भाषाशास्त्रीय होते थे। हिन्दी एक भाषा नहीं है, नाना जातिकी भाषाओंकी पँचमेल खिचड़ी है, वह राष्ट्र-भाषा होनेके योग्य नहीं है, उसका साहित्य तीसरे दर्जेका है, उसके बोलनेवालोंमें कोई सांस्कृतिक एकता नहीं है, और भी न-जाने क्या क्या। केवल पुस्तकी विद्याके आधार पर रातो-रात भारतीय भाग्यका निपटारा करनेवाले लोग ऐसी बातें कहते भी हैं, उनपर गौर भी करते हैं, बहस भी करते हैं और हारते-जीतते भी हैं। पर असलमें जिसने एक बार भी कलकत्तेसे दिल्लीतककी यात्रा की

हो, उसके लिए इन भाषाशास्त्रीय तर्कवादोंका कोई महत्त्व नहीं है। भारतवर्ष अगर कहीं है, तो यहाँ अवश्य है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा है या नहीं, यह बेकारका प्रश्न है। हिन्दी भारतवर्षके मर्मस्थलकी भाषा है, केन्द्रीय भाषा है और भारतीय विचारधाराको प्रकट करनेका सबसे मजबूत माध्यम है। उसके बोलनेवालोंमें एकता नहीं है, तो संसारमें एकता नामक वस्तु कहीं है ही नहीं। और यह दो-तीन बजेतक महुआ जैसी तुच्छ वस्तुको एकत्र करनेके लिए जो जाति बिना खाये पिये इस वैशाखकी धूपसे लड़ सकती है और फिर भी गीत गाती हुई लौट सकती है, वह निश्चय ही कर्म-कर्कश और मर्दाने साहित्यको पैदा करनेका सामर्थ्य रखती है।

मेरी ट्रेन कभी छोटे-छोटे नालोंको लाँघते समय एक विशेष प्रकारका फुफकार छोड़ती थी, तो बरबस आँख उधर आकृष्ट हो जाती थीं। इन नालोंकी गहराई, संकीर्णता और सरसताकी पृष्ठभूमिपर जब कोई ग्राम-वधूटी—शायद वह तथाकथित छोटी जातियोंकी सन्तान थी—नीचे लाल घाँघरा और ऊपर धानी रंगकी चादर और उसके ऊपर भी मुलायम मधूक-पुष्पोंकी टोकरी लिये दीख जाती थी और जब अपने 'भ्रू-विलासा-नभिज्ञ' अपाङ्गोंसे भागती हुई ट्रेनको निहार देती थी, तो हिन्दीके रीतिकालीन साहित्यका खोखलापन मेरे निकट मूर्तिमान हो उठता था। पुस्तकी विद्या हमारी आँखोंको कितना अयथार्थदर्शी बना देती है। रीतिकालीन कविके निकट हमारी शिकायत यही नहीं है कि वह स्त्री-शरीरको इतना महत्त्व क्यों देता है, बल्कि उससे भी अधिक यह कि उसने स्त्री-रूपको सचमुच कभी नहीं देखा। दो-तीन बजेतक महुओंको संग्रह करके 'भूँभुरि डाढ़े' पैरोंसे न-जाने किन-किन लोगोंके लिए इस वधूने इतना आत्मदान किया है। उसके चेहरेपर कहीं भी असन्तोषका भाव नहीं है। वास्तविक भारतवर्षकी नारी-मूर्ति ऐसी ही है,—सेवामें, प्रेममें, कर्ममें अपने-आपको हँसते-हँसते खपा देनेवाली। इस ग्राम-वधूटीमें सारा भारतीय स्त्री-समाज प्रतिबिम्बित है। रीति मनोवृत्तिवाले कविने नायिका-भेदका पाठ

पुस्तकसे पढ़ा था, जीवनसे नहीं। इसीलिए हर रास्ते-चलता भलेमानस यह कहनेका साहस करता है कि हिन्दीका साहित्य तीसरे दर्जेका है। मैं ऐसा नहीं मानना चाहता। इसीलिए मेरा मन मेरी ट्रेनसे भी कहीं अधिक तेजीसे भविष्यके उस सुनहले युगकी ओर दौड़ पड़ता है, जब हमारा कवि और साहित्यिक सीधे जिन्दगीको ओर ताकेगा। उस दिनकी सम्भावनाओं-की कल्पनासे मेरा मन सिहर उठता था।

विचारोंको फिर एक बार धक्का लगा। कानपुर स्टेशनपर दो खद्दर-धारी युवक आपसमें साहित्यिक आलोचना करते दीख गये। अमुकजीकी कविता कितनी गजबकी होती है, और अमुकजी जब कवि-सम्मेलनोंमें खड़े हो जाते हैं, तो समा बँध जाता है। ठीक तो है। मैं अबतक पुस्तकी विद्यासे नाराज हो रहा था, पर इन समा बाँधनेवाले अमुकजीका तो उस विद्यासे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मेरी निश्चित धारणा है कि इन युवकोंमें भी कोई न-कोई अमुकजी जरूर है। ये छितराये हुए केश और धँसी आँखें कवि होनेके सबूत हैं। पर इनकी आलोचनामें भी कहीं पुस्तकी विद्याकी गन्ध नहीं। मैं मन-ही-मन वह व्याख्यान तैयार करने लगा, जो हिन्दी-परिषद्के सामने दूँगा। विचारोंको कागजपर लिख रखनेका प्रयत्न थोड़ा-थोड़ा करने लगा। मेरी बुद्धि अब पुस्तकी विद्याके नागपाशसे अपनेको मुक्त न कर सकी। कुछ तो पहलेसे ही लिखा पड़ा था, कुछ नया भी जोड़ने लगा। मेरे सामने उस विषयकी एक निश्चित रूप-रेखा तैयार हो गयी। मेरे वक्तव्यका विषय था संस्थाएँ क्या कर सकती हैं। विचार एक दूसरेको ठेलने लगे। धीरे-धीरे सन्ध्या उतरने लगी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब भी विशाल अजगरकी भाँति सामने ही पड़ा हुआ था। अब भी उसका ओर-छोर नहीं मिल रहा था। ट्रेन भी उकता गयी थी, मैं भी थक गया था और सुदूरके धूसर मैदान अब भी कुछ व्यंग्यकी हँसी-सी हँस रहे थे। अलीगढ़तक आते-आते पूरी रात हो चुकी थी। मेरा व्याख्यान भीतर-ही-भीतर जारी था। गाड़ी जब रुकी तब भी वह नहीं

रुका। इसी समय एक परिचित स्वरने पुकारा—'ज्योतिषीजी!' यह मेरा पुराना उपनाम था। उसने अब मुझे छोड़ दिया है; पर मेरे पुराने मित्रोंने उसे नहीं छोड़ा है। ज्योतिषीजी! यह एक व्यंग्य-सा लगा। शायद उसमें उस भावी घटनाकी ओर इशारा था, जो हिन्दी-परिषद्में होनेवाली थी, जब कि मेरा यह यत्न-लालित व्याख्यान सभापतिकी ममताहीन, पक्षपातहीन और द्विधाहीन घण्टीकी वेदीपर कुरबान होनेवाला था। मानों मेरे पुराने मित्रने मुझे सजग किया—साहित्यिक चिन्ता करनेवाले ज्योतिषी, तुम्हें कुछ भविष्यका भी ज्ञान है?

अपने मित्रसे मैं दो ही मिनट बातें कर सका। अचानक हो जानेवाले साक्षात्कारको केवल दो मिनटमें समाप्त करके हमारी ट्रेन निष्ठुरतापूर्वक भाग खड़ी हुई। इस समय मेरा हृदय कुछ कोमल हो गया होगा, कुछ संवेदनाशील बन गया होगा। शास्त्रपरसे फिर मेरी दृष्टि मनुष्यपर आ गयी होगी; पर मुझे अब कोई परवा नहीं थी। मेरा व्याख्यान समाप्त हो आया था, उसमें मनुष्य प्रधान था, शास्त्र गौण। फिर भी शास्त्र-रचनाको महत्त्वपूर्ण कहा गया था; क्योंकि संस्थाएँ मनुष्य नहीं बना सकतीं, शास्त्र बना सकती हैं। और मेरी उस मनःस्थितिमें भावोंका जो रूप व्याख्यान बनकर खड़ा हुआ, वह इस प्रकार था:—

"मित्रो,

हम जो यहाँ आज एकत्र हुए हैं, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि हम हिन्दीको किसी प्रतिष्ठित पदपर बिठावें, बल्कि इसलिए कि वह जिस प्रतिष्ठित पदपर पहलेसे ही आसीन है, उसके योग्य बननेमें जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उन्हें सुधारें। हमें किसी प्रकारके भुलावेमें नहीं रहना चाहिये। हिन्दीके विषयमें लिखते-बोलते समय हम राष्ट्र-भाषा शब्दका प्रयोग करते हैं। यह जान पड़ने लगा है कि यह बात नितान्त भ्रान्तिमूलक है। इस देशकी राष्ट्र-भाषा हिन्दी नहीं, बल्कि एक प्रकारकी कामचलाऊ कृत्रिम भाषा होने जा रही है। वह भाषा उस संस्कृति द्वारा चालित और प्रभावित नहीं

होगी, जो हमारे साहित्यका प्राण है। इस बातसे न तो हमें चिन्तित होना चाहिये और न किसी प्रकारकी शिकायत करनी चाहिये। भारतवर्ष न तो केवल हिन्दुओंका देश है और न केवल हिन्दी-भाषियोंका। इसका राष्ट्र-भाषा में विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और समुदायोंका साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व रहे, तो हमें झगड़नेकी कोई जरूरत नहीं है। इसलिए हमारे मनसे यह भ्रान्ति सदाके लिए दूर हो जानी चाहिये कि जिस प्रतिष्ठित पदपर हिन्दी बैठ चुकी है, वह राष्ट्र-भाषाका पद है। उस राष्ट्रभाषा-पद अर्थात् राजनीति, व्यवसाय तथा अन्यान्य बातोंके सौकर्यके लिए गढ़ी हुई एक पँचमेल कृत्रिम भाषाके पदके लिए आपको तपस्या करनेकी विशेष जरूरत नहीं है। कामचलाऊ चीज अपने-आप बन जाती है। रेलवे स्टेशनोंपर वह बन चुकी है कलकत्तेके बाजारमें वह चल निकली है। केन्द्रीय सरकारके हुक्मनामोंमें भी बिना आपकी सहायताके ही वह रूप-परिग्रह कर लेगी।

आप पूछ सकते हैं कि फिर वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिसपर हिन्दी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिन्दी आज भारतवर्षके हृदयमें वर्तमान प्रदेशोंकी मातृभाषा है, करोड़ों नर-नारियोंकी आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्यकी भाषा है। उसीमें वह शक्ति वह है जो भारतवर्षके सारे भागके दुःख-सुखको प्रकट कर सकेगी। संक्षेपमें, यह भारतीय महाद्वीपकी केन्द्रीय भाषा है। भारतवर्षकी राष्ट्र-भाषा अंगरेजी हो या हिन्दुस्तानी नामधारी गढ़ी हुई भाषा ; लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह कि भारतवर्षकी केन्द्रीय भाषा—वह भाषा, जिसका आश्रय लिये बिना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होनेको बाध्य है—हिन्दी है। उसमें साहित्य लिखनेका अर्थ है भारतवर्षके तीन चौथाई आदमियोंकी मानसिक शक्तिको उत्तेजित करना, उनके चरित्रका निर्माण करना और भारतवर्षके भाग्यको विशेष दिशाकी ओर ले जाना। हम इसी कार्यके लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। उस भाषाको

दृष्टिमें रखकर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गयी, तो हमें खुशी ही होगी, और इसे अगर राष्ट्र-भाषा नहीं माना गया, तो हमें नाराज होनेकी कोई जरूरत नहीं रहेगी।

हमें एक दूसरे प्रकारके भ्रमका शिकार भी नहीं होना चाहिये। सभा-सोसाइटियोंका सङ्गठन करके और उनमें पार्टियाँ खड़ी करके हम हल्ला चाहे जितना कर लें, साहित्य नहीं बना सकते। साहित्य देशके कोनोंमें बिखरे हुए लोग अलग-अलग बैठकर लिखते हैं। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नहीं; प्रोत्साहन दे सकते हैं, प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्यके रचयिता प्रायः सभाओंके सञ्चालक नहीं हुआ करते, इसलिए इस सभाको सङ्गठित करनेके लिए हम लोगोंको अपना कर्तव्य भी स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये। हमें किसी प्रकारकी गलत दुराशाको अपने मनमें आश्रय नहीं देना चाहिये।

हमें साहित्यका निर्माण आजकी परिस्थितिको देखकर नहीं करना है। समय बड़ी तेजीसे बदल रहा है। आजसे दस वर्ष बाद हिन्दी भारतवर्षकी सबसे अधिक साहित्यशून्य भाषा लगेगी, इसलिए नहीं कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओंसे पिछड़ी हुई है, बल्कि इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक हैं। लाखों वर्गमीलमें फैले हुए करोड़ों आदमियोंकी साहित्यिक और वैज्ञानिक पिपासा मिटानेका महान व्रत उसे लेना है। इतनी बड़ी जिम्मेदारी किसी अन्य भाषाकी नहीं है। हमारे अन्दर जो-कुछ भी गम्भीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समयके भागते हुए वेगसे हिन्दीकी गतिका सामञ्जस्य किस प्रकार होगा।

आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारोंको नहीं बना सकते; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देशमें भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिलें, तो साहित्यको नाना प्रकारकी परिचयात्मक पुस्तकोंसे भर सकते हैं। जिस साहित्यमें भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कला-परिचायक ग्रन्थों, मनोवैज्ञानिक और

मानव-विज्ञानादि शास्त्रोंकी पुस्तकें नहीं हैं, उसमें आजके युगमें उपयुक्त हो सकनेवाला कवि या नाटककार हो ही नहीं सकता। ये शास्त्र ही कविके दिमागको उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्यका मेरुदण्ड पौराणिक कथाएँ थीं, आजके साहित्यकी रीढ़ विज्ञान और इतिहास है। कविता और नाटकके क्षेत्रको सूना देखकर आह भरनेवाले ठीक उसके कारणको हृदयङ्गम करते, तो पहले इन विषयोंकी पुस्तकके अभावपर ही दुःख प्रकट करते। अबतक हमारे कवि और अन्य कलाकार इन विषयोंका ज्ञान विदेशी भाषाके माध्यमसे पाते रहे हैं। इसीका नतीजा यह है कि इस विदेशी माध्यमसे अपरिचित हिन्दीभाषीको इनका अर्थ समझमें नहीं आता। आधुनिक कविताको अगर आप हिन्दीमें देखना चाहते हैं, तो पहले विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज-विज्ञान आदिको देखनेकी इच्छा प्रकट कीजिये।

आजतक हमारे वृद्ध और प्रौढ़ साहित्यिक युवकोंकी रचनाओंको लघुताकी दृष्टिसे देखते रहे हैं। सारे संसारमे ऐसा ही हुआ है। ये वृद्ध और प्रौढ़ साहित्यिक भी किसी युगमे अपने वृद्धों द्वारा इसी दृष्टिसे देखे गये थे; परन्तु सारे संसारमें जो कुछ हुआ है, वही हमें दुहराना नहीं है। संसारके समृद्ध साहित्य धीरे-धीरे बने हैं। हमें शीघ्रता करनी है, इसीलिए हमारे वृद्धों और प्रौढ़ साहित्यिकोंके दृष्टिकोणको भी बदल जाना चाहिये। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभवके बलपर कह सकता हूँ कि इस दृष्टिकोणके बदलनेपर बहुत बड़ा कार्य सिद्ध होगा। आज सजनीवाद और हालावादकी सस्ती भावुकतासे आप्लावित साहित्यिकोंको यह जान लेनेकी जरूरत है कि ये ही सस्ती भावुकताके शिकार तरुण हमारे साहित्यकी वास्तविक शक्ति हैं। आप इनके भीतर कुछ कर गुजरनेकी लगनको देखिये, उसे उपयुक्त दिशामें नियोजित कीजिये और तब आप देखेंगे कि ये युवक असाध्य-साधन कर सकते हैं। इनमेंसे अधिकांशका क्षेत्र कहानी या कविता लिखना नहीं है, यद्यपि उनमें रचनात्मक शक्ति पूरे जोर-

पर है। ये नहीं जानते कि वे किस क्षेत्रमें सफल हो सकते हैं—उन्हें यह भी नहीं मालूम कि क्षेत्र क्या क्या हैं। जिन्हें मालूम है, उन्हें साधन नहीं प्राप्त है। सम्मेलनों और परिषदोंके कर्णधारोंको चुन-चुनकर इन युवकोंसे काम लेना चाहिये, उन्हें कर्तव्य-निर्णय करनेमें सहायक होना चाहिये। यदि सभा-सोसाइटियाँ यह नहीं करतीं, तो उनके होनेका कोई औचित्य नहीं हो सकता। केवल साहित्यिक विवादोंको बढ़ाकर हम साहित्यकी कोई सेवा नहीं कर सकते।

मैं अपनी संकीर्ण चिन्तनशक्ति और सीमित अनुभवसे कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकता, जो आप सबको स्वीकार्य हो। फिर भी उनकी ओर इशारा कर देनेसे शायद कुछ लाभ हो। इसी उद्देश्यसे यहाँ उनकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

मित्रो, मैं ऐसे अनेक साहित्यिकोंको जानता हूँ जिनकी कृतिसे उनकी भाषाका साहित्य धन्य हो रहा है; परन्तु जो स्वय साहित्य-क्षेत्रमे आनेसे हिचकते थे, या आनेका सुयोग ही नहीं पा सकते थे। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने उन्हें स्नेहपूर्वक पुकारा। उन्होंने उनके द्वारा बताये कार्यको हाथमें लिया और आज अपने-अपने क्षेत्रके वे दिक्पाल माने जाते हैं। पं० विधुशेखर शास्त्रीके लिए कविने चीन और तिब्बतसे पुस्तकें मँगा दीं, विद्वान् बुलाये और शास्त्रीजी आज संसारके महायान-शास्त्रज्ञोंमें अन्यतम गिने जाते हैं। शास्त्रीजीके मुँहसे हो सुना है कि अगर गुरुदेवने कृपा न की होती, तो वे हजारों संस्कृतके शास्त्रियोंमेंसे एक होते। श्री हरिचरण वन्द्योपाध्याय, जिन्होंने बँगला भाषाका सबसे बडा कोष लिखा है और इस कार्यमे अपनी जवानीके तीस सुनहले वर्ष लगा दिये हैं, पहले कविकी जमींदारीके एक २५) माहवार पानेवाले मुनीम थे। कविने उन्हें देखकर ही अपने मैनेजरसे कहा था कि तुम्हारा मुनीम मुझे दूसरे कामके योग्य जान पड़ता है, उसे शान्तिनिकेतन भेज देना। आपके सुपरिचित अध्यापक क्षितिमोहन सेन यद्यपि पहलेसे ही घुमक्कड़ प्रकृतिके सन्त थे, तथापि कविके

स्नेहने उनको आज भारतवर्षका अन्यतम सन्त-विशेषज्ञ बना दिया है। बाबू जगदानन्द राय कविकी जमींदारीके एक और कर्क थे, जो पारस पत्थरके संस्पर्शमें आकर ऐसा कार्य कर गये हैं, जो जबतक बँगला जीती रहेगी, तबतक अविचल बना रहेगा। उन्होंने विज्ञानकी हर शाखापर बच्चोंके योग्य साहित्य लिखा है। इनमेंसे कइयोंका अनुवाद हिन्दीमें भी हुआ है। मैं नामोंको गिनाकर आपको थका देनेका अपराध नहीं करूँगा; पर हिन्दीके प्रौढ़ और वृद्ध साहित्यिकोंसे निवेदन करूँगा कि वे भी इसी उदारताके साथ नये युवकोंको उत्साहित करें। वे देखेंगे कि दस वर्षमें हिन्दीका कोई भी क्षेत्र लहलहानेसे बाकी नहीं रह गया है।

परन्तु मैं एक बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। वृद्धोंका स्नेह और सभाओंकी सहायतासे जो युवक ग्रन्थ लिखेंगे, उनका उत्साह तबतक अक्षुण्ण नहीं रख सकते जबतक उनकी रचनाओंके प्रकाशित करनेकी व्यवस्था नहीं करें। युवक काम करना चाहता है; पर साथ ही अपनी रचनाओंको प्रकाशित भी देखना चाहता है। अगर उसकी रचना प्रकाशित नहीं हुई, तो उसे बड़ा धक्का लगता है। आपकी सभाएँ इस विषयमें भी उसे सहायता दे सकती हैं। वे प्रकाशकोंसे सम्बन्ध रख सकती हैं, उन्हें अभिनव विषयोंकी पुस्तकोंको प्रकाशित करनेकी ओर उत्तेजित कर सकती हैं और प्रकाशित होनेपर उनके प्रचारका भी उपाय कर सकती हैं।

साथ ही मैं उन लोगोंसे भी निवेदन करना नहीं भूलूँगा, जो सौभाग्यवश हिन्दी-भाषाके साहित्यका प्रकाशन कर रहे हैं। उन्हें भी आजसे दस वर्ष बादकी अवस्था सोचकर ही पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिये। इस विषयमें उन्हें साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओंके साथ सहयोग करना चाहिये। येन केन प्रकारेण पैसा कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है; किन्तु साहित्यका प्रकाशित करना निश्चय ही बड़ी बात है। यह एक पवित्र कर्तव्य है, समाजके प्रति एक महान् उत्तरदायित्वका पालन करना है। उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिये कि छोटा दिल लेकर बड़ा कार्य नहीं किया जा

सकता। साहित्यका प्रकाशन इतना पवित्र और इतना बड़ा कार्य है कि उसके लिए विशालसे विशाल हृदयकी आवश्यकता है। इस बातकी सख्त जरूरत है कि ऐसे विषयोंपर पुस्तकें प्रकाशित की जाँय, जो केवल मनोरञ्जक ही नहीं, ज्ञान और सम्पत्तिके बढ़ानेमें सहायक हों।

"मैं कुछ ऐसे विषयोंकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनके अभावमें हमारा साहित्य कभी फल-फूल नहीं सकता। वृद्धोंको इन विषयोंके लिए प्रोत्साहन देना चाहिये, सभाओंको आदमी चुनने चाहिये और इसके अध्ययनको सुलभ करनेकी व्यवस्था करनी चाहिये और प्रकाशकोंको इन्हें प्रकाशित करना चाहिये। यह सर्वजन-विदित बात है कि इस शताब्दीमें और वह भी विशेष करके महायुद्धके बाद विज्ञानकी नाना शाखाओंके अध्ययन और प्रयोगसे आधुनिक विचारधारा अत्यधिक प्रभावित हुई है। नये शोध-अध्ययन और प्रयोगोंने केवल नये ज्ञानोंकी वृद्धि ही नहीं की है, उससे कहीं अधिक किया है। उसने समूचा दृष्टिकोण ही उलट दिया है। डार्विनके जीव-विज्ञान सम्बन्धी खोजोंसे प्रोत्साहन पाकर और बहुत-कुछ उसीके ऊपर निर्भर करके भौतिकवाद और यान्त्रिकताने पिछली शताब्दीकी मनोवृत्तिको अभिभूत कर दिया था। महायुद्धके बाद, प्रा० विलियम रोजके शब्दोंमें, वे उन विचारोंके लिए स्थान खाली करते जान पड़ रहे हैं जिनके सम्बन्धमें भय है कि कहीं रहस्यवादके अतल गर्भमें निमज्जित न हो जायें। फिर भी वह वस्तु जिसे वैज्ञानिक और तत्त्वज्ञ लोग 'मेटर' कहते हैं, जो प्रकृतकी विकृति है, जो गुण संघात है, वह जैसा था वैसा ही बना हुआ है। हमारे दृष्टिकोणके परिवर्तनसे उस वस्तुमें परिवर्तन नहीं हो सकता है, और मनुष्य अपने समस्त वैज्ञानिक प्रयोगों और तत्त्वचिन्ताओं द्वारा केवल एक ही महालक्ष्यकी ओर बड़े वेगसे धावित हो रहा है। वह महालक्ष्य है अपनी ही सत्ता और प्रकृतिका रहस्योद्घाटन और उस विश्वके साथ अपने सम्बन्धका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना जिसकी एक अप्रतिहन्यमान और

क्रियात्मक शक्ति वह स्वयं है। इस महालक्ष्यको सामने रखकर हम अपने साहित्यका निर्माण कर सकते हैं। इसकी पूर्तिके लिए विचार करें, तो ५ पदवियोंको अतिक्रम करनेकी जरूरत है :—

समग्र मानव-समाज —उसका संगठन, जीवन और अन्तर्हित एकता।

व्यष्टिरूपसे मनुष्य—उसका अन्तर्निहित प्राण, मन, आत्मा।

जीवनी शक्ति —मनुष्यके भीतर और बाहर, मनुष्य और अन्य जीवोंका पारस्परिक सम्बन्ध।

भौतिक विज्ञान—शक्ति, उसकी परिणति और रूपान्तरीभवन।

रसायन-शास्त्र—मैटर, उसका परिवर्तन।

इन्हीं पाँच मुख्य विषयोंसे नाना शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं और भविष्यमें निरन्तर फूटती जायँगी। मानव-बुद्धि जितना ही इनको पकड़नेके लिए हाथ-पैर मारती जा रही है उतना ही ये अपने विराट् रूपको बढ़ाते जा रहे हैं। मानव-बुद्धिरूपी सुरसाके सब कौशल इस विज्ञानरूप हनूमान्के सामने मानों प्रतिहत हो रहे हैं। फिर भी मनुष्य हारा नहीं है। वैज्ञानिक शाखाएँ इतना अधिक विस्तृत हो गयी हैं कि एक आदमीके लिए सबका अध्ययन तो सम्भव नहीं है, किसी एक शाखाका सम्पूर्ण अध्ययन भी असम्भव है। उत्तरोत्तर उपशाखाओंकी विशेषता प्राप्त करनेके प्रयत्न बढ़ते जा रहे हैं। शाखाएँ और उपशाखाएँ एक दूसरेसे विच्छिन्न होती जा रही हैं, यद्यपि एक दूसरीके बिना आगे बढ़ भी नहीं सकतीं। ऐसा जान पड़ता है कि केवल एक ही बात इनको परस्पर मिला सकेगी। वह यह कि इन सबकी भूमिकामें मनुष्यका मस्तिष्क है।

शुरूमें ही मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ मैं विज्ञानों और उनकी शाखाओंके प्रयोगमूलक अध्ययनोंके प्रस्तुत करनेकी बात नहीं करूँगा। यह काम विज्ञान-परिषद्के जिम्मे ही रहे, तो अच्छा हो। आजके युगमें ये बातें किस अवस्थातक पहुँच चुकी हैं, कौनसे सिद्धान्त उन्होंने निश्चय

किये हैं, इत्यादि विषयक जानकारीका संग्रह करना ही हमारा उद्देश्य है। मेरे प्रस्तावित विषय ये हैं :—

(१) दर्शन और विज्ञानकी आरम्भसे लेकर अबतककी प्रगतिका विवेचन।

(२) धर्म-विज्ञान और परमात्म-स्वरूप।

(३) विश्वकी जड़ प्रकृति।

(४) ज्योतिर्विज्ञानकी अबतककी पहुँच।

(५) गणितशास्त्रकी प्रकृति।

(६) सापेक्षवाद।

(७) जीव-विज्ञानने मानव-जातिकी अग्रगतिमें क्या सहायता पहुँचायी है।

(८) जीव-विज्ञानका रहस्यमय पहलू।

(९) यौन-विज्ञान।

(१०) जनसंख्याका प्रश्न।

(११) मनोविज्ञान।

(१२) मनोविश्लेषण-शास्त्रके सिद्धान्त।

(१३) नैतिकता और संस्कृतिका उद्गम और विकास।

(१४) मानव-जातिका विभाजन और विविध रेसोंके विशेष लक्षण।

(१५) पुरातत्त्वने क्या किया है।

(१६) दर्शन-शास्त्रकी आधुनिक विचार-धाराएँ।

(१७) अर्थशास्त्रका असली स्वरूप।

(१८) सम्पत्ति-विस्तार।

(१९) उद्योग-धन्धोंके संगठनके आधुनिक विचार।

(२०) राजनीतिक संघटनोंके सिद्धान्त और व्यवहार।

(२१) इतिहासका वैज्ञानिक रूप।

(२२) वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
(२३) आधुनिक भौगोलिक परिकल्पना।
(२४) साहित्यमें आधुनिकता।
(२५) चित्रांकन, मूर्तिशिल्प और वास्तुकलाकी विवेचना।
(२६) संगीतका स्वर-विज्ञान।
(२७) सभ्यताके लक्षण।

इन सताईस विषयोंपर आप दो-दो, चार-चार पुस्तकें लिखायें, तो हिन्दी-भाषी जनताको आधुनिक जगतको देखनेको आँख देंगे। ये पुस्तकें विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे लिखी जानी चाहिये। किसी प्रकारकी प्रचारक वृत्तिका सम्पूर्ण अभाव होना ही श्रेयस्कर होगा। अँगरेजीमें इन विषयोंपर लोक-बोधगम्य बहुत-सी पुस्तकें छपी हैं। एक ही पुस्तकमें विभिन्न पण्डितोंकी लिखी हुई इन और इनसे सम्बद्ध विषयोंकी रचनाएँ बहुत मिलेंगी। विशेषज्ञ लोग अगर इन पुस्तकोंका निर्वाचन कर दें, तो आप आसानीसे उनका अनुवाद करा सकते हैं।

मैंने ऊपर आधुनिक शास्त्रोंकी बातें की हैं; पर मैं और भी अधिक जोर देकर आपको प्राचीन ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद करनेकी बातकी सिफारिश करूँगा। आजकल हम इस दिशामें केवल काम बन्द ही नहीं किये बैठे हैं, जो लोग कहीं-कहीं कुछ कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा भी कर रहे हैं। राहुलजी और उनके मित्रोंने पालीके ग्रन्थोंका अनुवाद करके हिन्दी-साहित्यको जितना समृद्ध किया है, वह कहकर नहीं समझाया जा सकता। जैन-ग्रन्थोंके अनुवाद और सम्पादनमें पं० सुखलालजी, मुनि जिनविजयजी आदि महात्माओंने जो श्रमसाध्य, तपस्यामूलक कार्य किया है, उस ओर किसी साहित्यिक संस्थाने ताकना भी उचित नहीं समझा है। महायान बौद्धधर्मके एक भी ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। किसी भी संस्कृतके उच्च कोटिके दार्शनिक, आलंकारिक और धार्मिक ग्रन्थका पण्डितजनोचित अनुवाद शायद ही हुआ है। गीता

प्रेससे शांकरभाष्यका और नागरी-प्रचारिणी सभासे रसगंगाधरका अनुवाद निकला है। उनके लिए हमें लेखकों और प्रकाशकोंका कृतज्ञ होना चाहिये; परन्तु इतनेसे क्या हमारा आँसू पुँछ गया ? न्याय, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य आदिके सैकड़ों प्रामाणिक ग्रन्थ क्या अँगरेजी और जर्मनमें अनूदित होनेके लिए ही लिखे गये थे ? संस्कृत और प्राकृतके काव्यों और नाटकोंके कितने अनुवाद आपके पास हैं ? हिन्दी-भाषाकी भयंकर दरिद्रता इस क्षेत्रमें अक्षम्य है। सारे संसारके विद्वान् हिन्दी-भाषी पण्डितोंसे पढ़कर इन ग्रन्थोंका अनुवाद, व्याख्या आदि लिखकर अपनी-अपनी भाषाका साहित्य भर रहे हैं और हमें पता भी नहीं है। यह असह्य अवस्था है। मेरा विचार है कि हिन्दीकी संस्थाएँ हिन्दी-साहित्यका अंश बहुत ही संकीर्ण कर देती हैं। हिन्दीके पुराने ग्रन्थोंका सम्पादन और टिप्पणी-लेखनतक ही हमारे साहित्यिक शोध सीमित हैं। हमें दृढ़तापूर्वक अपना शोध-क्षेत्र विस्तृत करना होगा। नागरी-प्रचारिणी सभाने इस दिशामें रास्ता दिखाया था। आप उस दिशामें और भी दृढ़तासे चलें, यही मेरी प्रार्थना है।"

दिल्ली आ गयी थी। मुझे और बातों की फिक्र करनी थी। मैं उतर पड़ा।

हम क्या करें ?

हिन्दी : साध्य या साधन ?

सबसे पहले यह भली भाँति समझ लेनेकी जरूरत है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं, साधन भी है, बल्कि हमारी वर्तमान परिस्थितिमें हममें अधिकांशके लिए साधन अधिक है, साध्य कम। हिन्दीकी प्रतिद्वन्द्विता न तो किसी प्रान्तीय भाषासे ही है और न संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओंसे ही। आजसे कई सौ वर्ष पहले जो स्थान संस्कृतका था और आज जो स्थान अँगरेजीका है, हिन्दी उसीकी अधिकारिणी है। वह संसारके समस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान और यावत् विषयोंको करोड़ों आदमियोंतक पहुँचानेका साधन बनना चाहती है। भारतवर्षमें आंशिक रूपसे किसी युगमें संस्कृत इस कार्यको करनेमें समर्थ हो सकी थी; पर वह पण्डितोंकी भाषा थी, और इसीलिए जहाँ वह तत्तद् विषयोंको योग्यतापूर्वक आलोचित कर सकी, वहाँ करोड़ोंतक तो क्या, हजारोंतक पहुँचानेमें भी असमर्थ रही। अँगरेजी विदेशी भाषा है, इसलिए वह भी यह कार्य उस योग्यताके साथ इस देशमें नहीं कर सकी, जिसके साथ इंगलैण्ड आदि देशोंमें वह करती है। हिन्दीका दावा है कि वह इन दोनों भाषाओंके दोषोंसे मुक्त है। संस्कृतके समान वह केवल पण्डितोंकी भाषा नहीं है, फिर भी संस्कृतकी समस्त सम्पत्तिकी वह अपनी अन्यान्य भगिनी भाषाओंकी भाँति स्वाभाविक अधिकारिणी है। दूसरी तरफ अँगरेजीकी भाँति वह विदेशी भाषा नहीं है, यद्यपि एक ही युगमें पैदा होनेके कारण वह अँगरेजीके उन सभी गुणोंको आत्मसात् करनेका उचित दावा रखती है जिन्हें युग-धर्मने अँगरेजीमें आरोपित किया है।

यह नितान्त भ्रम है कि फारसी या अरबी भाषा भी कभी इस देशमें उसी प्रकार सांस्कृतिक, पारमार्थिक और व्यावहारिक विषयोंके विवेचनका साधन रही है, जिस प्रकार संस्कृत भाषा थी या अँगरेजी भाषा है। यह जरूर है कि एक अत्यन्त सीमित कालमें (जो संस्कृतिकी विशाल परम्पराकी तुलनामें अत्यन्त नगण्य है) फारसी अदालतोंकी भाषा थी और फारसीसे मिली हुई हिन्दी बाजारकी भाषा थी, पर इतना ही भर। उन दिनों भी संस्कृत भाषा ही भारतवर्षकी दर्शन, ज्योतिष, चिकित्सा, व्याकरण, न्याय, धर्म (कानून) आदि सांस्कृतिक और पारमार्थिक विषयोंकी सूक्ष्म विवेचनाकी भाषा था, और आज भी उसने अपना यह दावा छोड़ नहीं दिया है। आज भी संस्कृतमें इन विषयोंपर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, टीका-टिप्पणी की जा रही है और निष्ठापूर्वक पठन पाठन हो रहा है। कुछ दिनोंसे अँगरेजी भाषा इन विषयोंके विवेचनका भार भी लेनेकी तैयारी कर रही है, और अगर आज भी हिन्दी इन विषयोंको उससे नहीं छीन लेती, तो अगली दो-तीन पीढ़ियोंतकके लिए ही नहीं, आगेके लिए भी वह परमुखापेक्षी ही होकर रहेगी।

एक तरफ हजारों वर्षोंकी भारतीय ज्ञान-परम्परा और दूसरी तरफ आधुनिक युगकी हजारों योजन-व्यापी जन-समुदायकी विराट् चिन्तन-धाराका वाहन हिन्दीको बनना है। इसीलिए आजकी परिस्थितिमें हिन्दी-साहित्य हमारे लिए साध्यकी अपेक्षा साधन अधिक है। संस्कृत और अँगरेजीके आसनकी योग्य और उचित अधिकारिणी यह भाषा केवल कविता और कहानी लिखनेवालोंकी ही सम्पत्ति नहीं है। उससे कहीं बड़ी है, कहीं व्यापक है, कहीं शक्तिगर्भा है। इस बातको समझे बिना जो सभाएँ की जाती हैं वे नितान्त उपहासास्पद, संकीर्ण और उथली होती हैं। इन सभाओंमें न तो संस्कृतके प्रसिद्ध विद्वान् और विश्वविद्यालयोंके साधनाशील विद्वान् आवश्यक समझे जाते हैं और न वे दिलचस्पी ही लेते हैं। इसका कारण केवल यही है कि मन-ही-मन हम हिन्दी-साहित्यको साध्य

अधिक समझते हैं, हिन्दी-भाषाको साधन कम। यह वाञ्छनीय नहीं है।

'हिन्दीवाला': एक विचित्र विशेषण

व्यक्तिगत रूपसे मुझे यह विशेषण अजीब-सा लगता है। हिन्दी बोलनेवाला आदमी इसका विशेष्य हो सकता है, और जब बंगाली या गुजराती लोग किसीको 'हिन्दीवाला' कहें, तो बात समझमें आ भी सकती है—हालांकि हम लोग किसी बंगालीको या गुजराती को 'बँगलावाला' या 'गुजरातीवाला' न कहकर सीधे बंगाली या गुजराती ही कहते हैं। लेकिन जब हिन्दी बोलनेवाले किसीको 'हिन्दीवाला' कहते हैं, तो बात अजीब हो जाती है। 'केमिस्ट्रीवाला', 'फिजिक्सवाला', 'साहित्यवाला' समझमें आ जाते हैं, क्योंकि इनके विशेष्य वे लोग हैं जो संसारके किसी कोनेमें इन विषयोंका अध्ययन-मनन कर रहे हैं। 'संस्कृतवाला' या 'लैटिनवाला' भी ठीक है। पर स्टेनकोनोको 'गेलिशवाला', मैक्समूलरको 'अँगरेजीवाला' या बोगलको 'डचवाला' और के० पी० जायसवालको अँगरेजीवाल' कहना क्या ठीक है? ये विद्वान् जिस किसी भाषामें अपने विषयको क्यों न लिखें ये 'पुरातत्त्ववाले' या 'भारतीय विद्यावाले' हैं। फिर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और राहुल सांकृत्यायन 'हिन्दीवाले' क्यों कहे जायँ? क्या इसलिए कि ये जिस भाषामें लिखते हैं उसमें भाषा ही प्रधान होती है, विषय गौण? या क्या ये अपने विषयमें इसी विषयके पण्डित समझे जानेवाले अन्यान्य पण्डितोंसे घट कर हैं? दोनों ही बातें गलत हैं। सही बात यह है कि हमारी मानसिक कमजोरी ऐसी है कि हम मन-ही-मन ऐसा समझते हैं कि अँगरेजी या जर्मनमें ही उक्त विषयकी प्रामाणिक पुस्तकें निकलती हैं और हिन्दीमें लिखना उक्त विद्वानोंकी किसी कमजोरीका परिचायक है। हम स्वीकार करें या नहीं, हमारे मनमें यह दुर्बलता है, और हमने यह विचित्र विचार-पद्धति स्वीकार की है कि अँगरेजी भाषामें लिख सकनेकी अक्षमता ऐसी बड़ी कमजोरी है जो किसीको योग्य नहीं होने देती। कम-से-कम हिन्दीमें जो

कुछ भी कोई लिखे, उसे अपने ही प्रान्तमें 'हिन्दीवाला' कहना (जब कि कहनेवाला स्पष्ट अपनेको अ-हिन्दीवाल समझता रहता हो) इस बातका परिचायक जरूर है कि हम हिन्दीको साधन और विषयको साध्य न मानकर हिन्दीको साध्य और विषयको साधन मानते हैं। श्री जयचन्द्रजीको इतिहासका विद्वान् न कहकर 'हिन्दीवाला' कहनेका अर्थ कुछ ऐसा है कि वे इतिहासकी साधना नहीं कर रहे हैं, हिन्दीकी साधना कर रहे हैं, और इतिहास नहीं, तो और कोई विषय ही उपलक्ष्य बनाकर वे हिन्दी जरूर लिखते रहेंगे, इतिहास लिखना चाहे छोड़ दें।

फिर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओंके पंडितों की तरह 'हिन्दी-भाषाका पण्डित' एक सीमित अर्थ में ही प्रयोज्य शब्द है। संस्कृत आदि भाषाएँ साधन हो सकनेकी शक्ति खो चुकी हैं, जब कि हिन्दीमें साधन होनेकी शक्ति पूरी मात्रामें वर्तमान है, और प्रत्येक नया दिन हमें यह महसूस करायेगा कि यह भाषा साधन होनेकी ओर बड़े वेगसे धावमान है, और इस कार्यके लिए जिस प्रचण्ड शक्तिकी जरूरत है वह उसमें पूरे जोरपर है। ऐसी हालतमें इन भाषाओंके साथ हिन्दीको एक हदतक ही बैठाया जा सकता है। वह हद है हिन्दीके प्राचीन साहित्यकी जानकारी। आधुनिक युगके पूर्वका समस्त (व्रजभाषा और अवधी आदिका) साहित्य प्राकृत और अपभ्रंशके प्राचीन साहित्यकी भाँति ही प्राच्य-विद्याका अंग है, जब कि हरिश्चन्द्रके बादका साहित्य संसारके आधुनिक साहित्यका अंग है। दोनोंमें प्रधान भेद यह है कि पहलेमें भौगोलिक सीमाएँ और राष्ट्रीय संस्कृतिका प्राधान्य है, जब कि आधुनिक साहित्य क्रमशः भौगोलिक सीमाओंसे अनावद्ध और राष्ट्रीय संस्कृतिसे अनवरुद्ध होता जा रहा है। संस्कृतका सवाल प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दीसे थोड़ा भिन्न भी है, जो विद्वानोंके निकट काफी स्पष्ट है, और इसलिए उसकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा रही है। संक्षेपमें यह समझ लेना चाहिये कि संस्कृत आज भी बहुत दूरतक नाना प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी चर्चाका साधन बनी हुई

है; पर हर सालके आँकड़ोंसे स्पष्ट है कि वह तेजीसे यह रूप छोड़ती जा रही है।

ऊपरकी बातका सीधा अर्थ यह है : (१) हिन्दीके रीतिकाल तकका साहित्य उस 'भारतीय विद्या'की जातिका है, जिसे अँगरेजीमें 'इंडोलाजी' कहते हैं, (२) यदि उक्त (प्राचीन हिन्दी) साहित्यके निर्माता हमारे 'अपने' हैं, तो ठीक उतने ही 'अपने' प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन मराठी, प्राचीन बँगला, तामिल आदिके निर्माता भी हैं। ये सभी एक ही श्रेणीमें आते हैं। जिन स्थानोंपर हमारे स्थानीय सम्मेलन हों, उनमें यदि ऐसे किसी साहित्य स्रष्टाकी साधनाभूमि हो, तो स्थानीय कार्यकर्ताओंको उनके दर्शन और परिचय करानेकी जरूर व्यवस्था करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, काशीमें यदि सम्मेलन हो, तो सम्मेलनकी स्वागत-समितिको तुलसीदास और कबीरदासके स्थानोंके दर्शन करने-करानेकी व्यवस्था करानेका आयोजन करना जितना जरूरी है, उससे किसी अंशमें भी कम नहीं है नागेश भट्ट या मधुसूदन सरस्वतीके स्थानोंका। जितना ही हम इस दिशामें अग्रसर होंगे, उतना ही हम अपनी प्रिय भाषाकी वास्तविक शक्ति और अपनी वरीयसी संस्कृतिकी अमर महिमा अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक हमारा दृष्टिक्षेत्र व्यापक नहीं हो सकता और न हमारी काम करनेकी प्रेरणा गम्भीर और स्थायी होगी। ऐसा न करके हम मानो अप्रत्यक्ष रूपसे स्वीकार कर लेंगे कि 'हिन्दी' का आन्दोलन एक अत्यन्त सीमित कार्यक्षेत्रका आन्दोलन है और हमारा साहित्य सम्मेलन बहुत कुछ 'ओरियण्टल कान्फरेन्स'के हिन्दी-विभागका एक स्वतन्त्र—और अधिक-से-अधिक ज्यादा मजबूत रूप है। जबकि होना यह चाहिये कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके एक अंशमात्रका रूप ओरियण्टल कान्फरेन्स है, जिसे इस देशवालोंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारके लिए संगठित किया है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और ओरियण्टल कान्फरेन्स

सारे भारतवर्षके प्राच्य-विद्याध्यायियोंकी एक सभा है, जो नियमित भावसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी भाँति ही भारतवर्षके भिन्न-भिन्न नगरोंमें प्रतिवर्ष बुलायी जाती है। इसका नाम ओरियण्टल कान्फरेन्स है। इसकी कारवाई अँगरेजीमें होती है और भारतीय विद्यासे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से छोटे छोटे इसके विभाग हैं। चूँकि 'भारतीय विद्या' आज सारे संसारके अध्ययन और चर्चाका विषय है, इसलिए कान्फरेन्सका, जिसकी आलोचनाका माध्यम अँगरेजी हो, बहुत जबरदस्त प्रयोजन है। मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उससे बहुत-से पाठक यह सन्देह कर सकते हैं कि मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको एक दूसरे 'ओरियण्टल कान्फरेन्स'के रूपमें देखना चाहता हूँ। सही बात यह है कि दुर्भाग्यकी विडम्बनासे आज जो स्थान इस देशमें यहाँकी भाषामें की गयी आलोचनाका होना चाहिये था, वह नहीं है। कोई भी यह उम्मीद नहीं करता कि भारतीय विद्याओंके सम्बन्धमें जर्मनोंने जो कुछ जर्मन भाषामें लिखा है, वही कम महत्वका है, और जो कुछ अँगरेजीमें लिखा है, वही ज्यादा महत्वका है! पर इस देशमें विचित्र बात है। सभी मानते हैं कि इस देशकी भाषाओंके विषयमें जो कुछ इस देशकी भाषामें लिखा गया है, वह नगण्य है, और अँगरेजीमें जो कुछ लिखा गया है, वही श्रेष्ठ है! पर आज दुर्भाग्यकी चाहे जैसी भी विडम्बना क्यों न हो, एक दिन अवस्था जरूर बदलेगी और हिन्दीमें की गयी चर्चा निश्चय ही अपना उचित आसन पायेगी। ओयरिण्टल कान्फरेन्स उस दिन भी जरूरी होगी, क्योंकि बहुत दिनोंतक हमें अँगरेजीके माध्यमसे विदेशमें बातचीत करनी पड़ेगी, और उस दिन हमारा यह कहना सत्य दिखेगा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उक्त कान्फरेन्ससे बड़ी और जबरदस्त संस्था है, क्योंकि इसका मूल पृथ्वीमें है, जहाँसे प्रतिकूल अवस्थाओंमें भी वह प्रचुर खाद्य संग्रह कर रहा है। उस दिन इसी सम्मेलन-वृक्षके चुने

हुए फूल उक्त कान्फरेन्स विदेशी अतिथियोंको समर्पण करेगी। वह दिन दूर नहीं है।

परन्तु जब मैं हिन्दी साहित्य-सम्मेलनको बड़ी संस्था कहता हूँ, तो इससे भी अधिक समझता हूँ। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन उक्त कान्फरेन्सकी भाँति केवल अतीत साहित्यकी समस्याओंकी आलोचना-भूमि नहीं है, वह वर्तमान और अनागत समस्याओंपर भी विचार करता है, और उसका यह रूप यद्यपि क्षीण है, फिर भी प्रति वर्ष अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। वह भावी साहित्यको—जो संसारका एक सबसे शक्तिशाली और स्वास्थ्यप्रदाता साहित्य होगा—बनानेका स्वप्न देखता है। वह भावी राष्ट्रका और साथ ही भावी कालका निर्माण करना चाहता है। वह उस अदृष्टमूल अंकुरको सींच रहा है, जो संसारका एक महान् छायादायक वृक्ष होनेवाला है। हमें इसी दृष्टिसे सम्मेलनको देखना चाहिये।

काशी-सम्मेलनका अनुभव

गत वर्ष काशीमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। मैं इस सम्मेलनमें जानेका अवसर खोज रहा था, और पं० बनारसीदासजीकी प्रेरणासे जानेमें समर्थ भी हुआ। फिर भी मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि मैं उसमें कुछ क्रियात्मक हिस्सा लेने जा रहा हूँ। मैं बिलकुल अध्ययन करनेकी इच्छासे गया था और यथाबुद्धि वह अध्ययन कर भी सका। वहाँ बहुतसे साहित्य-साधक, साहित्य-व्यवसायी और साहित्य-दलालोंसे मिलनेका सौभाग्य हुआ। मेरे लिए यह एक नया अनुभव था। मैं नयी पीढ़ीमें दुर्दमनीय साधनाका अंकुर देख सका, वृद्धोंमें तरुणोचित उत्साह अनुभव कर सका और साधारण जनतामें हिन्दीके प्रति प्रेमांध आशंकाका भाव भी लक्ष्य कर सका; लेकिन मैंने अत्यन्त स्पष्ट देखा कि यह सारा उत्साह लक्ष्यहीन है। भविष्यमें हमें क्या करना या होना है, इस विषयमें यदि साहित्यप्रेमियोंमें ऐकमत्य होता तो, गरमागरम बहसें और लम्बी-लम्बी

वक्तृताएँ इस प्रकार व्यर्थ न की जातीं और विरोधी दलोंमें किसी एक-न-एक बातपर जरूर समझौता हो जाता। हममेंसे अधिकांश जो एक दूसरेको न समझ सके, इसका प्रधान कारण यह था कि असलमें हम अपने-आपको ही नहीं समझ सके थे !

काशीके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके विषयमें मैंने बहुत-से लिखित और कथित विचार पढ़े और सुने हैं; अधिकांशमें शिकायतका स्वर ही ऊँचा है। मैं समझता हूँ, सम्मेलनके विषयमें इस प्रकारकी टीका करनेवाले उसके साथ न्याय नहीं करते। सम्मेलन एक जबरदस्त शक्तिशाली संस्था है, और उसका काशीवाला अधिवेशन तो उसकी अद्भुत शक्तिका बड़ा ही सुन्दर परिचायक था। दोष उसमें इतना ही था कि उसके अधिकांश कार्यकर्ता (और बाहरसे आये हुए प्रतिनिधि भी) अपने सामान्य लक्ष्यको भूल-से गये थे। सम्मेलनका कवि-सम्मेलन उसके किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए था, यह समझमें नहीं आता। मनोरंजन उसका उद्देश्य हो सकता है; पर सम्मेलन मनोरंजनके लिए नहीं बुलाया जाता। काव्य-विद्याकी चर्चा या आधुनिक काव्यगत प्रश्न उसमें विचारार्थ उपस्थित ही नहीं हुए। कवियोंमेंसे कितने ही ऐसे थे, जिन्होंने कलम पकड़नेका व्यवसाय अभी शुरू ही किया था। प्रथम दिनके कवि-सम्मेलनमें भगवानकी कृपासे पं० देवीदत्त शुक्ल जैसे सरल प्रकृतिके सर्वजन श्रद्धेय विद्वान् सभापति न होते, तो जाने कैसी लड़ाई छिड़ जाती। फिर भी कविता सुननेवालों और दाद देनेवालोंने उनकी वृद्धता, विद्वत्ता और सरलताका लिहाज कम-से-कम किया। प्रसादजीका एक नाटक भी किसी अज्ञात उद्देश्यकी सिद्धिके लिए खेला गया था। उसके लिए स्टेजपर जो पर्दे लगाये गये थे, उनके साथ 'काशी-कला-भवन'की मार्जित रुचिका कोई सामंजस्य नहीं था। प्रसादजीके गुप्तकालीन नाटकके साथ तो उसका सामंजस्य और भी कम था। कभी-कभी तो आश्चर्य होता था कि हमारे अनेक गण्यमान्य शुक्लकेश वृद्धजन उस मत्स्यगंधा नारियोंके पर्देसे सजे हुए

रंगमंचपर बैठनेको राजा कैसे हो गये ! क्यों नहीं शुरूमें ही कहा गया कि इस पर्देपर पर्दा डाल दिया जाय ? फिर बीच-बीचमें आदरणीय राय कृष्णदासजीकी ओर दृष्टि घूम जाती थी कि किस प्रकार उन्होंने इसे बर्दाश्त किया ! नीले-पीले रंगोंसे गुँदे हुए उस पर्देका होना समस्त हिन्दी-साहित्यकारोंकी रुचिपर प्रश्नवाचक चिह्न था। क्या ही अच्छा होता, यदि कला-भवनकी दो-चार गुप्तकालीन मूर्तियोंके अनुलिखन वहाँ लगाये गये होते। आश्चर्य होता था कि मैदागिनका चौमुहानीपर जो फाटक बनाया गया था, उसकी कल्पना जिस आदमीके दिमागमें आयी थी, उससे क्यों नहीं राय ली गयी ? इस विचित्र स्टेजपर आ-आकर जब हिन्दीकी अविमिश्र शुद्धताके विषयमें गरमागरम व्याख्यान होते थे और प्रस्ताव पास होते थे, तो सम्मेलनका समस्त असामजस्य मूर्तिमान हो उठता था। इस सामंजस्यहीन, लक्ष्यहीन सम्मेलनके आयोजनके पीछे एक दुर्दमनीय शक्ति थी। उस शक्तिका प्रदर्शन हुआ; पर नियोजनकी ओर कम ध्यान दिया गया। काशी जैसी संस्कृति-सम्पन्न नगरीकी कोई विशेषता मुश्किलसे वहा विद्यमान थी।

इस समस्त जंजाल-जालके भीतर कई बड़ी ही दिव्य विभूतियाँ सम्मेलनके रंगमंचपर दिख रही थीं। ये सब एकमत तो नहीं थे; पर अपने-अपने दृष्टिकोणसे वे हिन्दीके भविष्यको हस्तामलककी भाँति देख रहे थे। सारी गरमागरम बहसों और आशंकापल्लवित पुकारोंसे निर्लिप्त थे। कोई भी सम्मेलनका दर्शक इनको सारी भीड़से अलग कर सकता था—सर्वश्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, काका कालेलकर, बाबूराव विष्णु पराड़कर और राजेन्द्रप्रसाद इत्यादि। यद्यपि हमने कविवर मैथिलीशरण गुप्तको कभी मंचपर नहीं देखा; पर उनकी अनन्य साधारण पगड़ी उन्हें दर्शकोंसे अलग कर रही थी। आश्चर्य होता था कि यह 'पगड़ी' टिकी कैसे है। अब गिरी, अब गिरी और फिर भी दुरुस्त ! सबके पैर छूनेको ललकती हुई और फिर भी सबके ऊपर। निश्चय ही उस ऊपरसे श्लथ दिखनेवाली पगड़ीके भीतर कोई जबरदस्त

ताकत थी। वह वर्षाकी नदी नहीं थी, उसकी धारा गहराईसे पोषण पा रही थी। सम्मेलनके व्याख्यान जब हमारी व्यक्तिगत रुचि-अरुचिको भोंड़की मनोवृत्तिका शिकार बना दिया करते थे, तब इन तपोनिष्ठ व्यक्तियोंकी ओर देखनेसे चित्त शान्त हो जाता था। ना, हिन्दी बन्ध्या नहीं है, हिन्दीको शंकित होनेकी जरूरत नहीं है, हिन्दी रत्नगर्भा है। मुझे इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं रहा कि सम्मेलन साहित्य-स्रष्टा पैदा नहीं कर सकता। वह केवल उनका सम्मान ही कर सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि साहित्य-स्रष्टाओंकी एकान्त साधना ही उसे महिमान्वित कर सकती है, गरमागरम बहसें नहीं। सम्मेलनको अगर ठीक-ठीक रास्तेपर जाना है, तो साहित्यकारोंका सम्मान करे, साहित्यका प्रचार करे, साहित्य सृष्टिके साधनोंका आयोजन करे, जनताकी मनोवृत्ति साहित्यिक बनावे। सम्मेलनको परीक्षाएँ ऐसा ही कर रही हैं; पर सम्मेलनको और भी आगे बढ़कर पुस्तकालयोंका संगठन करना चाहिए, कोषों और विश्वकोषोंका निर्माण करना चाहिये, प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकोंका अनुवाद करना चाहिये, विद्या-विषयक व्याख्यानोंकी व्यवस्था करनी चाहिये। यही रास्ता है।

"साहित्य-सेवाका अधिकार सभीको है!"

एक तरुण साहित्यिकने मुझसे सम्मेलनमें बातचीतके प्रसगमें कहा था कि 'साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है!' मैं उनकी नेकनीयती और सरलताका प्रशंसक हूँ। आये दिन कविता और नाटककी पुस्तकोंकी भूमिकामें नाना आलंकारिक शब्दोंमें यह कहा जाता है कि साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है। कभी-कभी यह रूपक इस प्रकार प्रकट किया जाता है—'आपके हाथमें जो पुस्तक है, वह साहित्य-क्षेत्रके एक अनाड़ी मालीकी रचना है!' पुस्तक खोलकर पढ़िये, तो आपको इस कथनमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। हाय-हाय, इस अनाड़ी मालीने सभी फूल उखाड़ डाले, केवल काँटे ही छोड़े हैं! सही बात यह है कि साहित्य

कोई गढ़कुण्डेश्वरके पुदीनेका बगीचा नहीं है कि विन्ध्याटवीमें भ्रमण करनेवाला प्रत्येक अराजकतावादी जन्तु उसमें नाक घुसेड़े। उसमें एक शृँखला है, एक विधान है, एक उद्देश्य है, एक साधना है। साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है', यह ठीक है; पर साहित्य-सेवाका अर्थ पुस्तक लिखना ही नहीं है। साहित्यकी सेवा करनेके बहुत से रास्ते हैं। नागरी-प्रचारिणी सभाके पुस्तकालयमें झाड़ू देनेवाला बहुतेरे कलम घिसनेवालोंसे कहीं अधिक साहित्य सेवा करता है, और नित्य झाड़ू लेकर गन्दगी साफ करनेका आदर्श उपस्थित कर वह पुस्तकालयका उपयोग करनेवाले साहित्यिकोंको सच्चा मार्ग दिखाता है। 'सम्मार्जनी-चालना' सचमुच ही वहाँ 'समालोचना' से बड़ी बात है। सो, साहित्य-सेवा और पुस्तक-लेखनका परस्पर पर्यायवाची हो जाना साहित्यके लिए बड़ा खतरनाक है। पुस्तक उन्हींको लिखनी चाहिये, जिन्होंने पुस्तक लिखनेकी साधना की हो। जिन्हें लिखी जानेवाली विद्यासे पूरा परिचय हो। नहीं तो अनाड़ी मालियों-की सेवासे बगीचा ही बर्बाद हो जायगा। ऐसे दुमदारसे लँडूरे ही भले!

पुरानी और नयी रीति-मनोवृत्ति

एक बार मुझे मध्य-भारतके एक नगरकी साहित्यसमितिमें जा पड़नेका सौभाग्य हुआ था। उस दिन छायावादी कवितापर कोई बहस थी। बहस बड़ी मजेदार और साथ ही पाण्डित्यपूर्ण थी। परन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि आधुनिक कविताके प्रशंसक रीति-मनोवृत्तिके बुरी तरह शिकार थे। पन्त और प्रसादके प्रत्येक प्रयोगको अलंकारशास्त्रके कठोर नियमोंसे विशुद्ध सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया। निस्सन्देह ऐसा सिद्ध कर दिखानेवाले पण्डित थे। पर मैं सोचता रहा कि रीतिकाल तो अब भी अपने बीच जी रहा है। किसी काव्यके वाक्यों और वाक्यांशोंको परम्परा-समर्थित सहृदयताकी कसौटीपर कस देना ही क्या कविताकी सच्ची प्रशंसा है? क्या काव्यको जीवनकी विशाल पट-भूमिकापर रखकर देखनेका युग हिन्दीमें अब भी नहीं आया है? दिल्ली और मेरठकी हिन्दी-परिषदोंमें मुझे एक

दूसरी बात देखनेको मिली। वहाँ कुछ मित्र आधुनिक अंग्रेजी समालोचकों और दार्शनिकों द्वारा प्रयुज्यमान कितने ही रूपहीन चिन्ताओंके परिचायक शब्दोंसे साहित्य-रसके आस्वादन करानेका प्रयत्न कर रहे थे। मैं वहाँ भी सोचता रहा कि क्या यह नयी रीति मनोवृत्ति नहीं है ? क्या इन अर्वाचीन अलंकारोंसे साहित्यको मापनेकी आदत पहलेसे कुछ अच्छी है ? क्यों न आजका हिन्दी-साहित्य अपने ढंगसे अपनी जीवन-व्यापिनी साधनाओंको देखे ? जब कभी इन दोनों आदतोंकी बात सोचता हूँ तो यही समझमें आता है कि 'अरे इन दोउन राह न पायी !'

हम क्या न करें ?

'हम क्या करें ?'के अनेक उत्तर हैं। 'हम क्या न करें ?'का एक। हम ऐसा कोई काम न करें, जिससे हमारी प्रिय भाषाका उदीयमान सम्मान-भाव कम हो। असंयत, निरुद्देश्य, ज्ञान-लव-दुर्दिग्ध रचनाएँ निश्चित रूपसे उसके लिए हानिकारक हैं। विभिन्न भाषाओंसे सोच-समझकर ही उदाहरण देना उचित है। हमारे वृद्ध और लब्धप्रतिष्ठ लेखक भी जब मामूली-सी बातोंकी प्रामाणिकता बढ़ानेके लिए अन्य देशों और अन्य भाषाओंके छोकरोंकी अंटसंट बातें उद्धृत किया करते हैं, तो इस भाषाकी महिमा निश्चित रूपसे क्षुण्ण होती है। अदूरदर्शी पादरियोंकी लिखी पोथियोंसे जब हम अपनी रचनाओंकी प्रामाणिकता बढ़ानेका हास्यास्पद प्रयत्न करते हैं, तो निस्सन्देह इस भाषाका अपमान करते हैं। उपनिषदोंके उद्धरण भी जब हम अंग्रेजीमें उद्धृत करते हैं, तो अपने ज्ञानका दिवाला प्रकट करते हैं और रूसी, जापानी आदि ग्रन्थकारोंका मत भी अंग्रेजीमें ज्योंका-त्यों उद्धृत करके न जाने हम क्या करते हैं ! हिन्दी एक अत्यन्त शक्तिशाली जनसमुदायकी मातृभाषा है। उसको अपनी हरकतोंसे उपहासास्पद बनानेवाला अक्षम्य अपराधी है। यह हमें भूलना नहीं चाहिये।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्—

भारतीय धर्म-साधनाका इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्म-मतका अध्ययन करनेके लिए वैदिक, बौद्ध, और जैन साहित्यका अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषओंमें लिखित साहित्य ही है फिर चाहे वह संस्कृतमें लिखा गया हो या पालीमें या प्राकृतमें। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्यको सावधानीसे देखें और भारतीय जनसमूहको ठीक-ठीक पहचाननेकी कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्य-भाषाओंमें लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो इस देशकी जनताके विश्वासों और धर्म-साधनाओंकी जानकारीके लिए वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्योंकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देशमें रहती हैं और उनमेंसे अधिकांश धीरे-धीरे आर्य भाषभाषी होती गयी हैं। इन जातियोंकी अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओंमें उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जाननेका साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्योंसे भी पहले इस देशमें महान् द्रविड़ सभ्यता वर्तमान थी, उस सभ्यताके अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बादमें भारतीय धर्म-साधनाके अविच्छेद्य अग बन गये हैं; पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड़ सभ्यताका सम्बन्ध सुदूर मिस्र और वैबिलोनियातक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितोंका विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड़ जाति (रेस)की कल्पना कल्पना-मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्य-पूर्व द्रविड़ सभ्यताकी धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओंके अध्ययनसे एक बिलकुल नयी बातकी

और पण्डित मण्डलीका ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल-भाषा-भाषी लोगोंको जो अबतक जंगली समझकर उपेक्षा की गयी थी वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओंका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशियामें फैली हुई अनेक जनभाषाओंसे स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आजके हिंदू समाजमें अनेक जातियाँ हैं जिनका मूल निषाद (आस्ट्रो-एशियाटिक या आस्ट्रिक) जातियोंमें खोजना पड़ेगा। हमारे अनेक नगरोंके नाम इस भाषासे लिये गये हैं, खेती बारीके औजार और अन्य उपयोगी शब्दोंके नाम इन भाषाओंके आर्यरूप हैं और हिंदू धर्ममें श्रद्धा और सम्मान पानेवाले बहुतसे विश्वास मूलतः निषाद जातियोंके हैं। प्रो० सिल्वांलेवी और उनके प्रज़्युलुस्की आदि शिष्योंने जिन थोड़ेसे भाषाशास्त्रीय तत्त्वोंका रहस्य-उद्घाटन किया है उनके आधारपर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म-विश्वासोंका मूल भी इन जातियोंमें खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षोंमें सभी आर्येतर विश्वासोंको द्रविड़-विश्वास कह देनेकी प्रवृत्ति बढ़ गयी है। इस प्रकार शिव और विष्णुकी पूजा भी द्रविड़-विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफलमें विश्वास भी द्रविड़ सभ्यताकी देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तपपर जोर देना भी द्रविड़-विश्वास है। पर अब इस प्रकारकी बातोंकी अधिक छानबीनकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वास द्रविड़-विश्वास ही नहीं हैं और कोई भी बात हो सकती है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासोंका मूल खोजना कठिन है।

हमारे देशके इतिहासका बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातोंको भी बता सकते हैं। इस प्रकार कूर्मपुराणकी रचना छान्दोग्य उपनिषद्के बादमें हुई है, परन्तु इसलिए यह जरूरी नहीं कि कूर्मपुराणमें कही हुई सभी बातें छान्दोग्यमें कही हुई सभी बातोंसे नयी ही हों। हो सकता है कि इस पुराणमें संगृहीत कुछ बातें

छान्दोग्यसे भी पहलेकी हों। जैन आगमोंका संकलन बहुत बादमें हुआ है, पर इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमोंमें संकलन-कालके पूर्वकी बाते नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी पुस्तकमें किसी अत्यन्त पुरानी परम्पराका विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभासका कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

जैसा कि बताया गया है कि इस देशमें अनेक आर्यपूर्व जातियाँ थीं। उनकी अपनी भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्योंको इन जातियोंसे पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणोंमें असुरों, दैत्यों और राक्षसोंके साथ इन प्रचण्ड संघर्षोंकी कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियोंको देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पण्डित ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि विश्वव्यापी जलप्रलयके पूर्वकी ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलयका वर्णन सभी देशोंके साहित्यमें पाया जाता है, भारतीय साहित्यमें तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलयमें बहुत कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानवजातिको नये सिरेसे संसारयात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जलप्रलयके पूर्वकी सभी जातियोंको 'देवता' मान लिया गया है। उनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गयीं उन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामोंसे ही पुकारा गया पर इन शब्दोंसे अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियोंको भी देवयोनिजात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणोंकी कल्पना की गयी। मैं स्वयं इस मतको सन्देहकी दृष्टिसे ही देखता हूँ पर इसमें सन्देह नहीं कि ये संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमानेके परम्परालब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य-भाषाभाषी होती गयी हैं। कुछ तो अन्त-तक आर्य-भाषा-भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानोंमें आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्मविश्वासोंको कथंचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य-भाषाभाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासोंको

आर्यभाषाके माध्यमसे कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओंका संस्कृतमें आना बहुत बड़े विचार-संघर्षका कारण हुआ। सन् ईसवीकी प्रथम सहस्राब्दीमें ही इस संघर्षका आभास मिलने लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दीमें तो किसी मतको वेदबाह्य कहकर लोकचक्षुमें हीन करनेकी प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रियाको न तो हम श्रमण-संस्कृतिका प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेदसम्मत मत कहनेका ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूपसे वेदविरोधी है। हम इसे वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेदबाह्य भारतीय धर्मका प्रसंग उठनेपर बौद्ध और जैन मतोंकी बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भावधारा भी इस देशमें काफी प्रबल थी जो वेदबाह्य भी थी और श्रमण-संस्कृतिसे भिन्न थी। इस वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृतिके विषयमें अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उसपर परवर्ती कालका रंग भी चढ़ गया है।

विक्रमकी सातवीं-आठवीं शताब्दीके बाद हिन्दू आचार्योंमें एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पायी जाती है। वे किसी मतको जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेदबाह्य या श्रुतिविरोधी घोषित कर देते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दीके बाद धीरे-धीरे इन वेदबाह्य और श्रुति-विरोधी घोषित किये गये सम्प्रदायोंमें अपनेको वैदिक और श्रुतिसम्मत कहनेकी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेदबाह्य कहे उसीको वेदबाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्यने पाशुपतोंको वेद-बाह्य कहा था और बादमें शंकरको 'प्रच्छन बौद्ध' कहानेका अपयश

भोगना पडा। परवर्ती साहित्यमें एकमतका आचार्य विरोधी दूसरे मतको प्रायः ही वेदबाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपनेको वेदसम्मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करते रहे वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपनेको खुल्लमखुल्ला वेदविरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपनेको केवल वेदविरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेदमार्गको निम्नकोटिका भी समझते रहे। इनके ग्रन्थोंमें प्रत्येक वेदविहित मतको और नैतिक आदर्शको हीन बताया गया है और अत्यन्त धक्कामार भाषामें आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्ततक ये मत अपना वेदविरोधी स्वर कायम नहीं रख सके। शुरू-शुरूमें इनके धक्कामार और तिलमिला देनेवाले वचनोंकी पारमार्थिक व्याख्या की गयी और बादमें उन्हें विशुद्ध श्रुतिसम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तरकी अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्य-पूर्व सभ्यताओंकी स्मृति वहन करती आ रही हैं। इन सम्प्रदायोंके अध्ययनसे हमें अनेक भूली बातोंकी जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युगमें प्रचलित लोकजाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियों और सम्प्रदायोंकी रीति-रस्में हमें केवल वर्तमानकी ही बात बता सकती हैं। हो सकता है कि ये हमें घने अन्धकारको भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीतके कुज्झटिकाच्छन्न कालमें पैठ सकें।

मनुष्यके उत्थान पतनका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है। न जाने कितने मूलोंसे मनुष्यने अपना धर्म-विश्वास संचय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओंसे जर्जरित कालमें यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयताके साथ संस्कृतिके साथ चिपटे हुए सड़े छिलकोंको फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्तिसे

अन्य श्रेणियोंके सत्यको ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधनाका इतिहास इस दिशामें बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बड़े देश और बहुत दीर्घ कालको व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और कालका प्रभाव इसपर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययनसे तत्कालीन अन्य मतोंका भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतोंसे प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आये हैं। जो लोग धर्म-मतको अनादि और सनातन मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म विश्वास बदलते रहे हैं, कभी-कभी उनके स्थानपर एकदम नवीन विश्वासने प्रतिष्ठा पायी है और कभी-कभी उनमें थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्रमें कहा है—'धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायाम्'। यह कथन ऐतिहासिक अर्थमें सत्य है। केवल धर्मग्रन्थोंके अध्ययनसे हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासोंका वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियोंका ज्ञान होना चाहिये। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान और इतिहासकी अविच्छिन्न धाराका ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरोंमें विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययनका मुख्य साधन है। धर्मका तत्त्व और भी गहराईमें है। वह सचमुच ही गुहामें निहित है। उस अन्ध-तिमिरावृत गुहामें जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म साधनाके विद्यार्थीके लिए सम्माननीय है।

मनुष्यकी सर्वोत्तम कृति : साहित्य

जिस दिन छोटे-से जीव-कणने जड़ प्रकृतिके साथ विद्रोह किया था, उस दिन सृष्टिके इतिहासका नया अध्याय शुरू हुआ था, पर उससे भी बादका अध्याय उस दिन शुरू हुआ, जिस दिन मनुष्यने जीव-सृष्टिमें अपना अद्वितीय स्थान अधिकृत किया। मनुष्य और मनुष्येतर जीव-जगत्‌में यही अन्तर है कि विकास मनुष्येतर जीवोंमें अपने आप होता गया, पर मनुष्य-जगत्‌में विकास प्रयत्नपूर्वक किया गया। मनुष्येतर जगत्‌में इच्छा तो है, पर उसको रूप देनेकी क्षमता उसमें नहीं है। मनुष्यमें इच्छा भी है और उसे रूप देनेका सामर्थ्य भी। यही एक ऐसी बात है, जिसने मनुष्यको संसारका अप्रतिद्वन्द्वी जीव बना दिया है।

सभी मनुष्य किसी-न-किसी परिमाणमें इस शक्तिको लेकर पैदा हुए हैं। अपनी इच्छाओंको सभी किसी-न-किसी प्रकार रूप दे लेते हैं। पर कमाल वहाँ है, जहाँ मानवीय आकांक्षाका रूप सुन्दर हुआ है। अगर एक आदमी इच्छापूर्वक अपनी शक्तियोंका दुरुपयोग करके हजारोंका खून चूसकर सेठ या साहूकार बन बैठे, लाखोंको पीसकर सम्राट् बन जाय तो निस्सन्देह इच्छाको एक रूप तो दिया, पर यह रूप सुन्दर न होगा। सौन्दर्य सामञ्जस्यमें होता है, पर जहाँ लाखोंकी कीमतपर एक फल-फूल रहा हो वहाँ सामञ्जस्य कैसा ? यह तो वीभत्स काण्ड है। कहते हैं, जब चीन देशके 'छु' राज्यके सम्राट्‌ने एक छोटे-से 'सुङ्' नामक राज्यपर आक्रमण करना चाहा तो चीनके प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य मो-च उनके पास गए। सम्राटने अभिवादनपूर्वक उनसे आनेका कारण पूछा। मो-चने बताया कि उनके गाँवमें एक डाकूने उपद्रव मचा रखा है। उसके अत्याचारसे एक स्त्री विधवा हो गयी है और तीन बच्चे अनाथ हो गये

हैं। कई लोग गृहहीन हो गये हैं। सम्राट्ने रोष-पूर्वक उन्हें आश्वासन दिया कि डाकूको अवश्यमेव उसके कियेका दण्ड दिया जायगा। परन्तु मो.च.की चिन्तित मुखमुद्रा और भी गम्भीर हो गयी। उन्होंने गम्भीरताके साथ पूछा कि उसे दण्ड क्यों दिया जायगा सम्राट् ? सम्राट्ने कहा, "उसने समाजमें विश्रृंखला पैदा की है, मेरी प्रजाकी शान्तिमें बाधा पहुँचायी है।" मो.च.ने नम्रतापूर्वक पूछा, "दीनबन्धु, क्या समाजको विश्रृंखल करना, शान्तिमें बाधा पहुँचाना, दण्डनीय अपराध है ?" सम्राट्ने घृणाके साथ उत्तर दिया—"हाँ, ये संसारकी सबसे भद्दी और घृण्य बातें हैं। इससे समाजका सामञ्जस्य नष्ट होता है।" मो-च.ने नम्रतापूर्वक कहा, "तो धर्मावतार ! एक और बड़ा डाकू है। यदि विचार करनेमें एक दिन की भी देर हुई तो वह हजारों स्त्रियोंको विधवा बना देगा, लाखों बच्चोंको अनाथ कर देगा और लाखों प्रजाजन उसके अत्याचारसे भीत होकर त्राहि-त्राहि पुकार उठेंगे। वह संसारकी सबसे भद्दी और घृण्य बातों से भी बड़ा और घृण्य कार्य करना चाहता है।" सम्राट्ने आवेशमें प्रश्न किया, "उस अत्याचारी जालिमका नाम क्या है ?" मो-चने विनय-पूर्वक उत्तर दिया—"'छु' राज्यका सम्राट् !" और सम्राटने लज्जा और घृणासे सिर झुका लिया।

जब हम कहते हैं कि अमुक दृश्य बड़ा सुन्दर है, उदाहरणके लिए किसी वन या पर्वतकी शोभा ले ली जाय तो उसका मतलब यही होता है कि वहाँ रंगका सामञ्जस्य है, ऊँचाई-नीचाई बेमेल नहीं हो गयी है। सबमें एक मीठा सम्बन्ध है, कोई किसीको दबा नहीं रहा है। मगर श्मशानकी खर-स्रोता नदी अपनी हड्डियों, कंकालों, नरमुण्डों और चिता भस्मके साथ वीभत्स होती है; क्योंकि उसमें सामञ्जस्य नहीं होता। सुन्दरता सामंजस्यमें होती है।

पुराणोंमें तिलोत्तमाकी कथा आती है। समस्त देवियों और अप्सराओंके सर्वोत्तम अंगोंका सौन्दर्य तिल-तिलभर संग्रह करके इस अपूर्व

सुन्दरी तिलोत्तमाकी सृष्टि हुई थी। परन्तु सर्वोत्तम सौन्दर्योंका बण्डल बाँध दिया जाता तो तिलोत्तमा नहीं बनती। सर्वोत्तम सौन्दर्योंके संग्रहके बाद भी उनको यथायोग्य स्थानपर बैठा देना चतुर स्रष्टाके ही बसका काम है। इसीको सामञ्जस्य कहते हैं। सभी चित्रकारोंके पास काले, नीले, लाल आदि अनेक रंग रहते हैं। केवल उत्तम शिल्पी ही जानता है कि किसका किस स्थानपर उपयोग करनेसे चित्र सुन्दर लगेगा। यह संसार भी एक महत्त्वपूर्ण विशाल कला-कृति है। इसको इस ढंगसे सजाना कि उसकी कुरूपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक प्रकारके उपादान उचित मात्रामें उचित स्थानपर ठीकसे बैठा दिये जायँ—यही सबसे बड़ी कला है। सारे मानव-समाजको सुन्दर बनानेकी साधना का ही नाम साहित्य है। सौन्दर्यको ठीकसे समझनेसे ही आदमी सौन्दर्यका प्रशंसक और स्रष्टा बन सकता है। घरकी छोटी-छोटी चीजोंके सामञ्जस्यसे यह शिक्षा शुरू होती है; क्योंकि वस्तुतः जो छोटे परिमाणके सौन्दर्यको समझ सकता है वही बडे. मापके सौन्दर्यको भी पहचान सकता है—'जो-जो पिण्डे सोई ब्रह्मण्डे!' इसलिए जो जाति जितनी ही अधिक सौन्दर्य प्रेमी है, उसमें मनुष्यता भी उतनी ही अधिक होती है। जातिका यह सौन्दर्य-प्रेम उसके साहित्यमें, उसकी कलामें और उसके दान-पुण्यमें व्याप्त रहता है। साहित्य और कलामें जो प्रेम है, वही उत्तम है। दान, पुण्य और परोपकारवाला उसके बाद आता है। यह बात सुननेमें जरा उल्टी-सी जान पड़ती है, पर है सीधी ही। वास्तवमें दान, पुण्य, परोपकारादि बातें साहित्य और कलाकी प्रेरणाके फल हैं। हमारे कहनेका मतलब यह है कि दान और पुण्य आदि बातें ऐसी हैं जिन्हें समयपर अच्छा भी कहा जा सकता है और समयपर बुरा भी। अगर किसीने कसाईको पाँच सौ गायें दान कर दीं तो निश्चय ही उसने दान किया, पर यह दान बुरा हुआ। इसी तरह अगर किसीने नदियों और तालाबोंसे घिरे हुए देशमें दस-पाँच कुएँ खुदवा दिये तो इससे क्या लाभ? किसीको घी खिलाना

बुरा नहीं है, पर अगर किसी अतिसारके रोगीको सेरभर घी खिला दिया गया तो उसकी मृत्यु निश्चित है। असलमें दान और पुण्य तो जिसके पास पैसा, समय और सहृदयता है वही कर सकता है, पर दान-पुण्य कब करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, किसे करना चाहिये, इत्यादि-इत्यादि बातें कुछ ही लोग सोच सकते हैं। इसीलिए दान-पुण्यके लिए ऐसे मनीषियोंकी सहायता अपेक्षित होती है, जिन्होंने जगत्के द्वन्द्वोंको, उसी समस्याको, उसके सत् और असत् पक्षको, इस प्रकार देख लिया हो, जैसे आदमी हाथपर रखे हुए आँवलेके फलको देख सकता है। ऐसे मनीषी साहित्यके स्रष्टा हैं। साहित्य उन्हींकी चिन्ताका रूप है। इसीलिए जो जाति साहित्यके सर्वोत्तम रूपको समझ सकती है, वह मनुष्यताके सर्वोत्तम रूपको समझ सकती है। वही दान कर सकती है, वही पुण्य कर सकती है, वही धर्म-कर्म चला सकती है। यह समझना कि दान-पुण्य कर देना बड़ी बात है, भूल है। दान-पुण्य बुरी चीज नहीं है, यदि वह समझकर ढंगसे किया जाय, परन्तु वह अपने आपमें बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्यको आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे ऊपर उठाती है, जो उसे देवता बनाती है। साहित्यका कार्य यही है। वह पौराणिक आख्यान सबको मालूम ही है जब क्रौञ्च-मिथुनमेंसे एकको निहत देखकर आदि-कविके मुखसे अचानक नये छन्दका आविर्भाव हुआ था। कविको छन्द मिल गया था, पर विषय उनको नहीं मिला था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे, छन्द तो मिल गया, पर वक्तव्य-वस्तु क्या होगी, कौन-सी कथा, कौन-सा चरित्र, कौन-सा उद्देश्य इस छन्दके बन्धनमें बाँधा जाय ? तमसाके तटपर व्याकुल भावसे घूमते हुए वाल्मीकि-को महामुनि नारद मिले। (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस आख्यान-पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कविता लिखी है। छन्द पाकर आदि-कवि-के मनमें जो व्याकुलता हुई थी, उसे वही समझा सकता है, जो छन्द पाकर कभी व्याकुल हो चुका हो और शायद समझ भी वही सकता है,

जो छन्द पाकर पागल हो चुका हो। वाल्मीकिने नारदसे कहा था कि अबतक देवताके छन्दने देवताको मनुष्य बनाया है, मैं मनुष्यको देवता बनाना चाहता हूँ। हे देवर्षि, मुझे एक ऐसा चरित्र बताओ जिसे मैं इस छन्दमें गूँथकर मनुष्यको देवता बना सकूँ। नारदने वाल्मीकिको अयोध्याके राजा रामक नाम बताया। वाल्मीकिने कातर भावसे कहा, "हे देवर्षि! नाम तो मैंने भी सुना है, परन्तु उनका यथावत् चरित्र तो मैं नहीं जानता, इतिवृत्त कैसे लिख सकूँगा? मुझे भय हो रहा है कि कहीं मैं सत्य-भ्रष्ट न हो जाऊँ।" नारदने हँसकर जवाब दिया—कवि, दुनियामें जो कुछ घटता है, वह सब सत्य नहीं होता। तुम जो कहोगे वही सत्य होगा, अपनी मनोभूमिको रामकी जन्मभूमि अयोध्याकी अपेक्षा कहीं सत्य मानो।—

> नारद कहिला हासि, सेइ सत्य या रचिबे तुमि।
> घटे या ता सब सत्य नहे, कवि तव मनोभूमि॥
> रामेर जनम स्थान अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

सो, मनुष्यको देवता बनाना ही, छन्दः-साधनाका चरम लक्ष्य है। जिस कविको सचमुच ही छन्द-रूपी रत्नका साक्षात्कार हुआ है, उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिये, जिससे मनुष्य देवता बने, लोभ-मोहकी मारसे ऊपर, आहार-निद्राके धरातलसे ऊपर, संकीर्ण स्वार्थके पञ्जोंसे मुक्त। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि जो कुछ घटता है वह सत्य ही नहीं होता—सभी तथ्य सत्य नहीं होते। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्—सत्यका मुख सुनहरे पात्रसे ढका हुआ है।

स्वार्थ तो सबमें होता है। पशुमें भी है, मनुष्यमें भी है। जहाँतक स्वार्थका सम्बन्ध है, मनुष्य पशु ही तो है। अगर पशु कहना कुछ कड़ा मालूम होता हो तो उसे 'बड़ा पशु' कहिये। पशुका स्वार्थ छोटा होता है और मनुष्यका बड़ा। नहीं तो क्या उन आदमीनुमा लोगोंको मनुष्य ही कहेंगे, जो पेट पालनेके लिए, स्वार्थके लिए, खुद-गरजीके लिए झूठ

घोलते हैं, दगा करते हैं, दूसरोंका अहित करते हैं और जाने क्या-क्या करते हैं ! जो और भी बड़े स्वार्थी होते हैं, वे पैसेके बलपर कभी अन्ध जनताको पैसेकी शराब पिलाकर उन्हें मतवाला करते हैं और निरीहोंके रक्त-शोषणका औजार बना लेते हैं। कुछ बुद्धिके बलपर उन्हें धार्मिक ढोंगका नशा पिलाकर लोगोंको जलील करते हैं, देशका देश तबाह करा देते हैं। कुछ अधिकारका मद पिलाकर गरीबोंकी पसलियाँ दुह लेते हैं। क्या इन आदमियोंको भी आप आदमी कहते हैं ? नशा सेवन करना पाप है, उसके सेवनका साधन बनना और भी बड़ा पाप है, पर उस पापकी तो कोई तुलना ही नहीं, जिसमें नशेको नशा न कहकर, उसके असली तत्त्वको छिपाकर और अच्छा नाम देकर सेवन कराया जाता है !

कोई व्यक्ति या वर्ग या जाति रुपये कमा सकती है, नाम कमा सकती है, बुद्धिसे निम्न कोटिका स्वार्थ-साधन करके यश भी कमा सकती है, पर यह इस बातका प्रमाण नहीं है कि उसके भीतर मानवोचित सद्-वृत्तियोंका विकास हुआ है और न इसी बातका प्रमाण है कि वह जाति संसारकी प्रगतिमें अपना कोई स्थायी दान छोड़ जाती है। दूसरी तरफ वह जाति जो सौन्दर्यकी पूजा करती है, असुन्दरकी उपेक्षा करती है—साहित्य और कलाकी सृष्टि करती है—वह अगर निर्धन भी हो तो संसारमें अपनी अमूल्य छाप छोड़ जाती है। ग्रीक-संस्कृति अपने अनुयायियों और निर्माताओंके अभावमें भी आज संसारका नेतृत्व करती है। सिकन्दर गुजर गये, सुकरात और अफलातून भी नहीं रहे, पर अपराजित, अमर ग्रीक-साहित्य संसारको अपनी ज्योतिसे आज भी जगमग कर रहा है। इटलीका उदाहरण लीजिए। परसोंतक यह देश पराधीन अवस्थामें संसारकी सहानुभूति और अनुकम्पाका पात्र था। कल अधिकारके मदमें चूर होकर उसने एक गरीब देशकी गर्दनपर छुरी चला दी। उसको विजय हुई, उसे धन मिला, नाम भी कम नहीं मिला। पर इसीलिए इटलीमें मनुष्योचित गुण नहीं कहा जायगा। कहनेवाले तो उसे पशुसे

भी अधम कह रहे हैं। पुराने ग्रीक और नवीन इटलीमें अन्तर क्या है? एकने संसारको विजय किया, पर उसकी विजय पूजनीय मानी गयी; दूसरेने एक भूखण्डको विजय किया, पर ससारने उसे नीच और बर्बर कहा है। उसकी विजय भी स्थायी नहीं रही और उसे पराजयका फल चखना पड़ा। भविष्य शायद और भी कड़ा विशेषण खोजेगा; क्योंकि एककी विजय साहित्य और कलाकी है और दूसरेकी विजय पशुबलकी। एकने मनुष्यकी सर्वोत्तम वृत्तिका सहारा लिया था और दूसरेने उसके अधमतम स्वार्थी रूपका। असलमें किसी जातिके उत्कर्ष और अपकर्षका पता उसके साहित्यसे ही लगता है। भारतवर्षके गुप्तकालका साहित्य लीजिये और अठारहवीं शताब्दीका, दोनोंमें कितना अन्तर है! एकमें वह विराट् जीवनी शक्ति है, जो आज डेढ़ हजार वर्ष बाद भी हमारी रहनुमाई कर रही है और दूसरीकी नाड़ीमें स्पन्दन भी नहीं—न राग, न विराग, न प्रेम, न द्वेष! रूसका साहित्य आज समुद्र और पर्वतोंको अनायास ही लाँघकर ससारके गलेका हार बन गया; क्योंकि रूसी जातिमें आज जीवन है।

सभी मनुष्य स्वभावसे ही साहित्य-स्रष्टा नहीं होते, पर साहित्य-प्रेमी होते हैं। मनुष्यका स्वभाव ही है सुन्दर देखनेका। घीका लड्डू टेढ़ा भी जरूर भला ही होता है, पर मनुष्य गोल बनाकर उसे सुन्दर कर लेता है। मूर्ख-से-मूर्ख हलवाईके यहाँ भी गोल लड्डू ही प्राप्त होता है; लेकिन सुन्दरताको सदा-सर्वदा तलाश करनेकी शक्ति साधनाके द्वारा प्राप्त होती है। उच्छृखलता और सौन्दर्य-बोधमें अन्तर है। बिगड़े दिमागका युवक परायी बहू-बेटियोंके घूरनेको भी सौन्दर्य-प्रेम कहा करता है, हालाँकि यह संसारकी सर्वाधिक असुन्दर बात है। जैसा कि पहले ही बताया गया है, सुन्दरता सामञ्जस्यमें होती है और सामञ्जस्यका अर्थ होता है, किसी चीजका बहुत अधिक और किसीका बहुत कम न होना। इसमें संयम

की बड़ी जरूरत है। इसलिए सौन्दर्य-प्रेममें संयम होता है, उच्छृंखलता नहीं। इस विषयमें भी साहित्य ही हमारा मार्ग-दर्शक हो सकता है।

जो आदमी दूसरोंके भावोंका आदर नहीं करना जानता उसे दूसरेसे भी सद्भावनाकी आशा नहीं करनी चाहिये। मनुष्य कुछ ऐसी जटिल-ताओंमें आ फँसा है कि उसके भावोंका ठीक-ठीक पहचानना सब समय सुकर नहीं होता। ऐसी अवस्थामें हमें संसारके मनीषियोंकी चिन्ताका सहारा लेना पड़ता है। इस दिशामें साहित्यके अलावा दूसरा उपाय नहीं है। मनुष्यकी सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्यपदका अधिकारी बने रहनेके लिए साहित्य ही एक मात्र सहारा है। यहाँ साहित्यसे हमारा मतलब सब तरहकी उसकी सात्त्विक चिन्ताधारासे है।

आन्तरिक शुचिता भी आवश्यक है

आजकल सर्वत्र उत्पादन बढ़ानेकी चर्चा है। स्वाधीन भारतके सामने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कोई भी काम धनके बिना नहीं हो सकता और धनके लिए यह जरूरी है कि हमारे खेत अधिकसे अधिक अन्न उत्पन्न करें, हमारी खानें ज्यादासे ज्यादा खनिज पदार्थ दें, हमारे कल-कारखाने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर माल तैयार करें। किन्तु हमें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी हर प्रकारसे करनी है। लेकिन देशकी रक्षा होने मात्रसे तो हमारा लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता। हमारे बीच अज्ञान और कुसंस्कारका राज्य जबतक बना हुआ है तबतक 'स्वराज्यका' कोई अर्थ ही नहीं होता। हमें इतना धन अवश्य चाहिये जिससे हम सम्पूर्ण जनताको सच्चे अर्थमें शिक्षित बना सकें और उनके भीतर ऐसे महान् आदर्शके प्रति निष्ठा पैदा कर दें जो न तो अन्याय करना पसन्द करे और न अन्याय सहना। इस कार्यके लिए हमें सबसे पहले मनुष्यको उसकी प्राथमिक चिन्ताओंसे मुक्त कर देना चाहिये। उसे रोटीकी चिन्ता न हो, बीमार पड़नेपर दवा मिलने में कठिनाई न हो, बच्चोंको स्कूल भेजनेकी सुविधा प्राप्त हो। इतना तो होना ही चाहिये, पर इतनेके लिए भी जितने धनकी आवश्कता होगी वह हमारे पास नहीं है। हमें उत्पादन बढ़ानेके सब तरीकोंको सोचना है। जो लोग उत्पादन बढ़ानेकी बात कहते हैं वे ठीक ही कहते हैं।

लेकिन उत्पादन और धनसंचय किसलिए? प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए धनका उत्पादन तो ठीक है, मगर फिर भी प्रश्न रह जाता है, प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ही किस परवर्ती उद्देश्यके लिए हो? क्या हमें सारे देशको यन्त्रपटु और दुस्साहसी बनाना है, क्या विश्व-विजयके सपने चरितार्थ करनेके लिए हमें इस तैयारीकी जरूरत है?

उत्पादनसे क्या हम और भी अधिक उत्पादनको सुलभ और सुकर बनाना चाहते हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर हमें देना होगा। क्योंकि लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम कहींके नहीं रहेंगे। सुखके बाह्य-साधन अपने-आपमें बड़े नहीं हैं। वे यदि मनुष्यके उन महान् गुणोंका विकास नहीं कर सकते जिन्हें युग-युगसे हम 'महान्' मानते आ रहे हैं तो विनाशकी ओर ले जायेंगे। मनुष्यमें यदि विवेक नहीं जाग्रत हो सका, यदि उदारता, समता और संवेदनशीलताका विकास नहीं हुआ, यदि वह आत्मसम्मान और परसम्मानके महान् तत्त्वोंको नहीं अपना सका, यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धाका विकास नहीं हुआ तो वह 'पशु' से अधिक भिन्न नहीं है। लोभ-मोहको बढ़ावा देनेसे मनुष्यकी 'मनुष्यता' ही आहत होती है। अनियन्त्रित धन-लिप्सा मनुष्यको पशुसे भी अधिक निकृष्ट बना देती है।

सौभाग्यवश हमें ऐसा महान् नेता मिला था जो हमें असंयम और अतिलोभके विनाशसे बचानेको प्रयत्नशील था, जिसने ऊपरी तड़क-भड़ककी व्यर्थता और बाह्याडम्बरके ढकोसलेका खोखलापन दिखा दिया था, जिसने आन्तरिक पवित्रता और सत्यनिष्ठाकी महिमा प्रत्यक्ष करा दी थी। परन्तु यह इतिहासका सबसे बड़ा निष्ठुर परिहास होगा यदि हम अपने नेताके महान् उपदेशोंकी बात भूल जायँ। उत्पादन आवश्यक है, धन भी आवश्यक है, पर वह ऊपरी तड़क-भड़क, बाह्यडम्बर और दिखावेके लिए नहीं, भीतरी शान्ति और पवित्रताके लिए। हमारे नागरिक यदि इस आन्तरिक शुचिताको भूल जाते हैं तो हमारी उत्पादन-व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, हमें विनाशकी ओर ही ले जायगी।

इसीलिए हमें अपनी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके उपाय सोचते समय शिक्षा और ज्ञानके प्रसारकी बातको गौण स्थान नहीं देना चाहिये। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि जबतक देशवासियोंका नैतिक बल नहीं बढ़ेगा, उनके भीतर पवित्रता और आदर्शनिष्ठा नहीं बढ़ेगी, तबतक

बाह्य-व्यवस्थाएँ कितनी भी पूर्ण क्यों न हों, जड़ नहीं जमा सकेंगी। जिस शक्तिके पीछे विवेक और औदार्य नहीं होते वह गलत दिशामें ले जाती है।

यह समझना भूल है कि हम अपने अतीतकी एकदम उपेक्षा करके बड़े हो जायँगे। अतीत ही वर्तमानको जन्म देता है। उसके दोष-गुणसे वर्तमान प्रभावित रहता है। हम अपनी उन महान् निधियोंको नहीं भुला सकते जिन्होंने शताब्दियोंतक मनुष्यको संयमी, सौन्दर्य-प्रेमी और संवेदनशील बनाया है, जिन्होंने हमारे पूर्वजोंके अन्तरको धर्मभीरु और बाहरको दृढ़ बनाया था। हमारे पुराने ग्रन्थ, हमारे ऐतिहासिक भग्नावशेष और हमारी कलात्मक कृतियाँ हमें महान् और उदार बनाती हैं। उनकी ओर जितना भी अधिक ध्यान दिया जा सके उतना ही अच्छा होगा। युग युगसे मनुष्यको मनुष्योचित गुणोंके प्रति निष्ठावान् बनानेवाली इन वस्तुओंके सरक्षण और प्रचारकी व्यवस्थाको भुलाना एकदम वाञ्छनीय नहीं है। जो लोग इस प्रकार तर्क करते हैं कि जिन देशोंमें ये वस्तुएँ नहीं हैं वे भी तो कम उन्नत नहीं हैं, वे दयाके पात्र हैं। उन देशोंके निवासियोंके हृदयमें पैठनेकी शक्ति उनमें नहीं है।

जिस प्रकार भौतिक पदार्थके उत्पादनके लिए आवश्यक है कि हम अपनी समूची उत्पादन-शक्तिका परिपूर्ण उपयोग करें उसी प्रकार आन्तरिक शुचिता और बाहरी संयमके लिए हमें नवीन और पुरातन समस्त उपलभ्य साधनोंका उपयोग करना चाहिये। दोनोंमें समता बनी रहनी चाहिये। ऐसा न हो कि हम बाहरी बातोंपर अधिक जोर देकर भीतरी शुचिताकी उपेक्षा कर दें। इसके लिए हमें उत्तम साहित्यके सृजन, प्रचार और प्रसारकी व्यवस्था करनी चाहिये। एकांगी उन्नति लाभजनक नहीं हो सकती। जबतक हमारा भीतर पवित्र नहीं होता तबतक हम उन्नत और सभ्य नहीं हो सकेंगे।

समस्याओंका सबसे बड़ा हल

अपनी-रूस यात्राके सिलसिलेमें मास्कोसे कविवर रवीन्द्रनाथने एक पत्रमें लिखा था—हमेशासे देखा गया है कि मनुष्यकी सभ्यतामें अप्रसिद्ध लोगोंका एक ऐसा दल होता है जिनकी संख्या तो अधिक होती है फिर भी वे वाहन होते हैं; उन्हें मनुष्य बननेका अवकाश नहीं, देशकी सम्पत्तिके उच्छिष्टसे वे प्रतिपालित होते हैं; वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य लोगोंकी परिचर्या या गुलामी करते हैं; सबसे अधिक उन्हींका असम्मान होता है। बात बातपर ये भूखों मरते हैं, ऊपरवालोंकी लात खाते हैं—जीवन-यात्राके लिए जितनी भी सुविधाएँ और मौके हैं उन सबसे वे वञ्चित रहते हैं। वे सभ्यताकी दीवट हैं, सिरपर दिया लिए खड़े रहते हैं;—ऊपरवालोंको उजेला मिलता है और उन विचारोंके ऊपर गरम तेल ढलकता रहता है! मैंने इनके बारेमें बहुत दिनोंसे बहुत सोचा है, मालूम हुआ है कि इसका कोई उपाय नहीं है। जब एक समूह नीचे न रहेगा तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता। और ऊपर रहनेकी आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय तो बिल्कुल नजदीककी सीमाके बाहर कुछ दिखाई नहीं देता;—मनुष्यत्व सिर्फ जीविकानिर्वाह करनेके लिए ही नहीं है। एकान्त जीविकाका अतिक्रम करके आगे बढ़े तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यताकी उत्कृष्ट फसल तो अवकाशके खेतमें ही पैदा होती है। इसीलिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ अवस्थाके कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मनकी गतिके कारण नीचे रहकर काम करनेको मजबूर है और उसी कामके योग्य हैं, जहाँतक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधाके लिए उद्योग करना चाहिये।......रूसमें एकदम

जड़से लेकर इस समस्याको हल करनेकी कोशिश की जा रही है। उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बातपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया। मगर फिलहाल जो कुछ आंखोंके सामने गुजर रहा है उसे देखकर आश्चर्य होता है। हमारी सम्पूर्ण समस्याओंका सबसे बड़ा हल है शिक्षा। अभी तक समाजके अधिकांश लोग शिक्षाको पूर्ण सुविधासे वञ्चित हैं—और भारतवर्ष तो प्रायः पूर्णतः ही वञ्चित है।

शिक्षा का आदर्श

"यहाँ रूसमें वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यमके साथ समाजमें सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। शिक्षाकी तौल सिर्फ संख्यासे नहीं हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णतासे—अपनी प्रबलतासे ही तौली जा सकती है। कोई भी आदमी निस्सहाय और बेकार न रहने पावे, इस बातके लिए कैसा विराट् आयोजन और विशाल उद्यम हो रहा है! केवल सफेद रूसके लिए ही नहीं—मध्य एशियाकी अर्ध सभ्य जातियोंमें भी ये बाढ़की तरह शिक्षा-विस्तार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं,—जिससे विज्ञानका अन्तिम उत्पादनतक उन्हें मिले इसके लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अन्त नहीं। यहाँ थिएटर-के अभिनयोंमें बड़ी जबरदस्त भीड़ होती है, मगर देखनेवाले कौन हैं—किसान और मजूर। कहीं भी इनका अपमान नहीं। देशकी सर्वसाधारण की तो बात ही छोड़ दो—इंगलैण्डके मजदूर-समाजके साथ तुलना करने से जमीन-आसमानका फर्क नजर आता है।

"हम श्री-निकेतनमें जो काम करना चाहते हैं ये लोग देशभरमें अच्छी तरहसे उसी कामको कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते तो बड़ा उपकार होता। रोजमर्रा मैं हिन्दुस्तानके साथ यहाँकी तुलना करता हूँ और सोचता हूँ कि क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमेरिकन साथी डाक्टर हेरी टिम्बर्स

यहाँकी स्वास्थ्य-व्यवस्थाकी चर्चा करते हैं, उनकी कार्यपद्धति देखनेसे आँखें खुल जाती हैं; और कहाँ पड़ा है रोगसन्तप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष! कुछ दिन पहलेतक भारतकी अवस्थाके साथ यहाँकी अवस्थामें बिलकुल समानता थी—इस छोटे समयमें बड़ी तेजीके साथ उसमें कैसा परिवर्तन हो गया है! और हम अभीतक जड़ताके कीचड़में ही आकण्ठ डूबे हुए हैं!"

सुदूर विदेशमें अशिक्षाके अन्धकारको विनाश करनेका विराट् प्रयत्न देखकर कविको भारतवर्षकी निरुपाय अवस्था बराबर याद आती रही। वे इस हतभाग्य देशके भूत और भविष्यको सोचकर व्याकुल हो पड़े थे। आज इस देशमें समस्याओंके समाधानके 'सबसे बड़े हल'का जो खिलवाड़ हो रहा है उसे देखकर वे बहुत व्यथित हुए थे। बर्लिनसे लिखी हुई एक दूसरी चिट्ठीमें उन्होंने लिखा था।

पराधीनता की बाधा

"बुद्धिका साहस और जनसाधारणके प्रति सहानुभूति—इन दोनोंके अभावसे ही दुःखीका दुःख दूर करना हमारे देशमें इतना कठिन काम हो गया है। परन्तु इस अभावके लिए किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि क्लार्क फैक्टरी बनानेके लिए ही एक दिन हमारे देशमें वणिक् राज्य द्वारा स्कूल खोले गये थे। मेजपर मालिकके साथ बैठ लेनेमें ही हमारी सद्गति है। इसीलिए उम्मेदवारीमें अकृतार्थ होते ही हमारी विद्या;, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए हमारे देशमें प्रधानतः देशका काम कांग्रेसके पण्डाल, अखबारोंकी लेख-मालामें और शिक्षित सम्प्रदायके वेदना-उद्घोषणमें ही चक्कर काट रहा था। हमारे कलमसे बँधे हाथ देशको बनानेके काममें आगे बढ़ ही न सके।

"मैं भी तो भारतकी ही आबहवामें पला हूँ। इसीलिए जोरके साथ इस बातको कयासमें लानेकी हिम्मत न कर सका कि करोड़ों जनसाधारणकी छातीपरसे अशिक्षा और असामर्थ्यका पहाड़ उतारना सम्भव

है। सोचा करता था, समाजका एक चिर बाधाग्रस्त जो नीचेका अंश है, जहाँ कभी भी सूर्यका प्रकाश पूर्ण रूपसे नहीं पहुँचाया जा सकता वहाँ कमसे कम तेलकी बत्ती जलानेके लिए कमर कसकर जुट जाना चाहिये। परन्तु साधारणतया इतनासा कर्तव्यबोध भी लोगोंके दिल-पर काफी जोरका धक्का नहीं मारता, क्योंकि जिन्हें हम अँधेरेमें देख ही नहीं सकते उनके लिए कुछ भी किया जा सकता है—यह बात भी साफ तौरसे मेरे मनमें नहीं आती। इसी तरहके स्वल्प साहसी हृदयको लेकर रूस गया था। सोचा था, यहाँ जो किसानों और मजदूरोंमें शिक्षा प्रचार की बड़ी शुहरत सुनी है उसके मानी हैं कि उनमें शिशु-शिक्षा पहला या दूसरा भागतक पढ़ा दिया गया होगा या दसतक पहाड़े रटा दिये गये होंगे!"

परन्तु कविने अचरजभरी मुद्रासे देखा कि आठ वर्षके स्वल्प कालमे इन्होंने असाध्य साधन किया है, देशको इस सिरेसे उस सिरेतक नवीन जीवन और नवीनप्राणसे सजीव कर दिया है। साधारण मजदूर भी शिक्षा और ज्ञानमें भारतवर्षमें औसत शिक्षित व्यक्तिसे अधिक योग्य है। और "याद है तुम्हें, इन्हीं लोगोंने लीग आफ नेशन्समें अस्त्र-निषेधका प्रस्ताव भेजकर कपटशान्ति-इच्छुकोंके मनको चौंका दिया था! क्योंकि अपना प्रताप बढ़ाना या उसकी रक्षा करना सोविएटोंका लक्ष्य नहीं है। इनका उद्देश्य है सर्वसाधारणकी शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्न और जीवनकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके उपाय उपकरणोंको प्रकृष्ट प्रणालीसे व्यापक बना देना; इन्हीं बातोंके लिए निरुपद्रव शक्तिकी सबसे अधिक आवश्यकता है।" कविका मन बराबर "अलिफलैलाके जादूगरकी करामात-सी मालूम होनेवाली" सर्वतोमुखी उन्नतिको देखकर भारतवर्षके दयनीय शोषितोंकी यादमें तड़प उठता रहा—

"दस ही वर्ष पहलेकी बात है। ये लोग हमारे देशके मजदूरोंकी तरह ही निरक्षर, निरन्न और निस्सहाय थे; हमारे ही समान अन्धसंस्कार

और धर्ममूढ़ता इनमें मौजूद थी। दुःखमें, आफतमें, विपत्तिमें देवताके द्वारपर इन्होंने भी सिर पटके हैं। परलोकके भयसे पण्डे-पुरोहितोंके हाथ और इस लोकके भयसे राजपुरुष, महाजन और जमींदारके हाथ अपनी बुद्धिको ये बन्धक रख चुके थे। जो इन्हें जूता मारते थे उन्हींका जूता साफ करना इनका काम था। हजारों वर्षसे इनकी प्रथा और पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, यान और वाहन, चरखा और कोल्हू—सब कुछ बाबा आदमके जमानेके चले आते थे; इनसे जब आधुनिक यन्त्रोंपर हाथ रखनेको कहा जाता था तब ये भी बिगड़ खड़े होते थे। हमारे देशके पैंतीस करोड़ आदमियोंपर जैसे भूतका भूत सवार है, उसने जिस तरह उनकी आँखें मींच रखी हैं,—ठीक वैसा ही हाल इनका भी था। इन्हीं कई वर्षोंमें इन्होंने मूढ़ता और अक्षमताका पहाड़ हिला दिया है? कैसे ये हिला सके?—इस बातसे आगे भारत-वासियोंको जितना आश्चर्य हुआ है उतना और किसको होगा, बताओ। और मजा यह कि जिस समय यह परिवर्तन चल रहा था उस समय हमारे देशका बहुत प्रशंसित Law and Order (कानून और व्यवस्था) यहाँ था ही नहीं।

"और कुछ नहीं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभी कुछ हो सकता था, मगर हुआ नहीं; न सही, हमें Law and Order तो मिला है। हमारे यहाँ साम्प्रदायिक लड़ाइयाँ होती रहती हैं, और इसके लिए हमारी खास तौरसे बदनामी की जाती है। यहाँ भी यहूदी सम्प्रदायके साथ ईसाई सम्प्रदायकी लड़ाई हमारे ही देशके आधुनिक उपसर्गकी तरह अत्यन्त कुत्सित और बड़े ही जंगली ढंगसे होती थी। शिक्षा और शासनके द्वारा उन्हें एकदम जड़से उखाड़कर फेंक दिया गया है। कितनी ही बार मैंने सोचा है कि साइमन कमीशनको भारतमें जानेसे पहले एक बार रूस घूम जाना उचित था।"

केवल रूस ही नहीं, अन्यान्य देशोंकी अवस्थाके साथ भी कविने अपने

देशकी अवस्थाकी तुलना करके देखा था कि विदेशी शासन हमारे शिक्षा और संस्कारिताके मार्गमें बुरी बाधा बना खड़ा है। मृत्युके तीन मास पूर्व अपने जन्म-दिनके अवसरपर उन्होंने कहा था—

"सभ्य-शासनकी परिचालनासे भारतवर्षमें जो दुर्गति आज सर्वाधिक उग्रताके साथ सिर उठाकर खड़ी हुई है वह केवल अन्न, वस्त्र, शिक्षा और आरोग्यका शोकार्ह अभाव नहीं है। वह है भारतवासीके भीतर अत्यंत नृशंस आत्मविच्छेद—अलगावकी भावना। भारतवर्षके बाहर स्वशासित मुसलमानी देशोंमें मैंने इसकी कोई तुलना नहीं पायी है। हमारी विपत्ति यह है कि हमींको इस विपत्तिके लिए जवाबदेह बनाया जायगा। किन्तु इस दुर्गतिका रूप जो प्रतिदिन क्रमशः उत्कट होता जा रहा है वह यदि भारत-शासनके ऊपरी स्तरके किसी एक गुप्त केन्द्रसे प्रति-दिन पोषित न होता रहता और प्रश्रय न पाता रहता तो कभी भी भारतीय इतिहासका इतना बड़ा, अपमानकारी असभ्य परिणाम नहीं घट सकता था। भारतीय लोग बुद्धि-सामर्थ्यमें जापानसे किसी अंशमें कम हैं यह बात विश्वास योग्य नहीं है। इन दोनों पूर्वीय देशोंका प्रधान भेद यह है कि भारतवर्ष अंग्रेजी शासन द्वारा सब प्रकारसे अधिकृत और अभिभूत है और जापान इस प्रकारकी किसी पाश्चात्य जातिकी पदतलकी छायासे सम्पूर्ण मुक्त है। यह विदेशी सभ्यता (यदि इसे 'सभ्यता' कहो तो) हमारा क्या लूट ले गयी है, यह मैं जानता हूँ। उसके बदले उसने डण्डेके हाथों उस वस्तुकी स्थापना की है जिसे Law and Order कहा जाता है, जो पूरी तौरसे बाहरी वस्तु है, केवल चौकीदारी भर ही है।"

बहुत दिन पहले कोरियाके एक युवकके प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने कहा था—"संसारमें जो युगान्तरकारी द्वन्द्व शुरू हुआ है, वह भिन्न-भिन्न महाजातियोंमें ही नहीं, बल्कि मनुष्यके दो ही विभागोंमें है—शासनकर्ता और शासितमें। शोषणकर्ता स्वार्थी और शुष्क होता है। इस विषयमें कोरिया और जापान, प्राच्य और पाश्चात्य सब एक ही पंक्तिमें हैं। हमारा

कष्ट और हमारी दीनता ही हमारी महाशक्ति है। उसीने संसारभरमें हमारा महा सम्मिलन कराया है और उसीके बलपर भविष्यपर हमारा अधिकार होगा। किन्तु जो धनिक हैं, स्वार्थके प्राचीरसे वे अलग-अलग घिरे हुए हैं। हमारे लिए बड़े आश्वासनकी बात यह है कि जो सत्य रूपमें मिल सकते हैं उन्हींकी जय होती है। यूरोपमें जो महायुद्ध हुआ था वह धनिकोंका युद्ध था। उस युद्धका बीज आज असंख्य होकर संसारभरमें फैल गया है। वह बीज मानव-प्रकृतिके अन्दर ही है—स्वार्थ ही विद्वेषबुद्धिकी जन्मभूमि है। अबतक दुःखी ही दीनता और अज्ञानके कारण एक दूसरेसे अलग थे; और धनमें जो शक्ति-शूल था वह उनके मर्मस्थलमें चुभा हुआ था। आज दुःख और दीनता ही हमें मिलायेगी और धन ही धनिकोंको विच्छिन्न करायेगा। संसारमें आज राष्ट्रतन्त्रकी जो अशान्त लहरें उठ रही हैं, बलवान् जातियोंमें जो दुराकांक्षाए बढ़ रही हैं, उससे क्या हमें यही नहीं दीख रहा ?" इसपर टीका करना बेकार है। मृत्युके समय रवीन्द्रनाथ जैसे सिद्धवाक् पुरुषने कहा है कि "मैं ऐसा विश्वास करना अपराध ही मानता हूँ कि मनुष्यत्वका अन्तहीन और प्रतिकारहीन पराभव ही चरम सत्य है !" यह वाणी ठीक होगी। मनुष्यत्वकी हार नहीं हो सकती। वह एक दिन जरूर विजय-गौरवसे वरेण्य बनेगा। महापुरुषकी वाणी "मृषा न होहिं"।

साहित्यका नया कदम

(एक काल्पनिक वार्तालाप)

स्थान—पुस्तकालयके अध्यक्षका कमरा।

उपस्थित सज्जन—

पंडितजी—पुस्तकालयके अध्यक्ष।

रत्नाकरदास—वृद्ध साहित्यिक।

बलराज—नवीन साहित्यिक।

मोहनलाल—नवीन साहित्यिक।

रत्नाकरजी—मोहनलाल, तुम कल साहित्यके नये अङ्गके बारेमें कुछ कहने जा रहे थे। मैं आज तुम लोगोंकी बात ही सुनना चाहता हूँ। मैंने और शर्माजीने कल तुम्हें बहुत-सी पुरानी बातें सुनायी हैं, पर सच पूछो तो मैं भी भीतर-भीतर अनुभव करने लगा हूँ कि पुरानी ही बातें सब कुछ नहीं हैं और तुम लोगोंसे सुनने योग्य बहुत-सी बातें सुनी जा सकती हैं।

बलराज—कल आपने जो बातें बतायी थीं उन्हें मैंने बड़े ध्यानसे सुना। पर मुझे ऐसा लग रहा था कि वे किसी ऐसे स्वप्नलोककी बातें हैं जो केवल अभिभूत करता है। आँखोंपर एक नशाका आवरण डाल देता है और चित्तको इस प्रकार मत्त बना देता है कि आदमी जीवनकी वास्तविकताओंके प्रति बेखबर हो जाता है। मैं फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि इस यन्त्र-युगमें सामन्त-युगीन नायिकाओंके सिंगार-पटारकी बात बिलकुल बेतुकी लगती है। मशीनोंने आदमियोंकी परिस्थितियोंको ही नहीं बदला है, आदमीको भी बदल डाला है।

रत्नाकरजी—मशीनें आदमीकी परिस्थितिको बदल दें, यह बात तो कुछ समझमें आ जाती है, पर आदमी कैसे बदल गया है बलराज! साहित्य उन मूल मनोवृत्तियोंपर आधारित है जिनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। तुम क्या कहना चाहते हो कि मूल मनोवृत्तियाँ भी अस्थायी हैं?

बलराज—जी, मैं कहना तो कुछ ऐसी ही बात चाहता हूँ।

रत्नाकरजी—(कुछ सोचमें पड़कर) बलराजकी सभी बातें झकझोर देनेवाली होती हैं। क्यों मोहनलाल, तुम कुछ कहना चाहते हो? बोलो, मैं आज सुनना ही चाहता हूँ। मुझसे अधिक धैर्यपूर्वक सुननेवाला बूढ़ा तुम्हें नहीं मिलेगा।

मोहनलाल—जैसी आज्ञा। मैं कल जिस साहित्यके नये अङ्गकी बात कह रहा था वह नयी परिस्थितिकी उपज है। छापेकी मशीनका आविष्कार यद्यपि पन्द्रहवीं शताब्दीमें ही हो गया था तथापि वह साहित्यपर अपना सम्पूर्ण प्रभाव तबतक नहीं विस्तारित कर सकी जबतक भापकी मशीनों और तारका संयोग उससे नहीं हुआ। रेल और जहाजने एक स्थानसे दूसरे स्थानपर कागज आदि उपकरण पहुँचाना शुरू किया और टेलीग्राफने खबरें मँगाना सुलभ कर दिया। और इस प्रकार उस नये साहित्यका जन्म हुआ जिसे पत्रकार-कला कहा जाने लगा है। यूरोपमें अठारहवीं सदीके अन्ततक यह कला पैर नहीं जमा सकी थी। उन्नीसवीं शताब्दीमें इसने निश्चित रूपसे साहित्यको प्रभावित करना शुरू किया और वर्तमान शताब्दीमें वह एक साहित्यका अनिवार्य वाहन हो गयी है। एक पण्डितने इस नये साहित्याङ्गकी महिमाका अन्दाजा लगानेके लिये हिसाब लगाकर बताया है कि सुकरातको गत ढाई हजार वर्षोंमें जितने पाठक मिले होंगे उतने बर्नर्ड शाको एक दिनमें मिल जाते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पाठकोंके अधिक मिलनेसे किसी लेखकका महत्त्व बढ़ ही जाता है, पर यह निश्चित है कि किसी विचारककी सोची हुई किसी बातको सूक्ष्म भावसे आलोचित और गृहीत होनेके लिए यह जरूरी है कि अधिकसे

अधिक आदमी उस विचारको सुनें। इस दृष्टिसे शा साहब निश्चय ही सुकरातसे अधिक भाग्यवान् हैं। पर अगर पत्रकारोंके साहित्यपर गौर करके देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि यह साहित्य जल्दी लिखने, जल्दी पढ़ने और जल्दी ही भूलनेको उत्तेजना देता है। इस प्रकार वह एक तरफ जहाँ किसी लेखकको बहुत अधिक प्रचारित करता है, वहाँ उसके विचारोंको गम्भीरतापूर्वक विचार करनेमें विघ्न भी उपस्थित करता है। नित्य हजारों किस्मकी इतनी ऊल-जलूल बातें छपती हैं कि उसमें अच्छी चीजका खो जाना ही ज्यादा स्वाभाविक जान पड़ता है। एक अमेरिकन लेखकने उत्तम पुस्तकोंके लिए कहा है कि ये पुस्तकें नित्य छपनेवाले अक्षरोंके महासमुद्रमें छोटे-छोटे द्वीपोंके समान हैं जो कदाचित् ही मिलती हैं।

बलराज—जिज्ञासा-वृत्तिको उत्तेजित करना ही बड़ी बात है, पाठ्य-सामग्रीकी स्थायिता या अस्थायिता नहीं। पत्रकार-कलाने अपना काम ठीक ही किया है। स्थायी पाठ्य-सामग्रीका निर्माण साहित्यके अन्य अङ्गोंका काम है। आप दोनोंको सानते क्यों हैं?

मोहनलाल—जी, यह ठीक है कि, पत्रोंने पाठकोंकी वृद्धि की है और पाठकोंमें साहित्यकी माँग बढ़ती गयी है। छापेकी मशीनके आविष्कारके साथ ही साथ अगर स्टेटकी ओरसे या समाजकी ओरसे इस प्रकारका प्रतिबन्ध लगा दिया जाता कि केवल अर्वाचीन और प्राचीन उत्तम पुस्तकें ही लाखोंकी संख्यामें छापी जायँगी तो क्या अवस्था होती, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ विचारकोंका दावा है कि ऐसी हालतमें हमारी वर्तमान पीढ़ी जिस विचार-शैथिल्य और छिछलेपनका शिकार हो रही है, वह नहीं दीखता। पर शायद उस हालतमें स्वाधीन विचार भी नहीं फैलते। जो नहीं हुआ उसके लिए चिन्ता करनेसे कोई फायदा नहीं। संप्रति यह सत्य है कि छापेकी मशीनने लेखोंकी माँग बढ़ायी है और ऐसे बहुतेरे लेखक जो वस्तुतः प्रतिभाशाली नहीं हैं, साहित्य-क्षेत्रमें

आये हैं और नित्य नयी साहित्यिक चिन्ताको देनेमें असमर्थ होकर— और जल्दीके कारण संसारके विचारकोंकी बातोंको केवल सुनकर और उनपर ठीक-ठीक विचार न कर सकनेके कारण—बहुत-सी ऐसी बातें लिखते रहे हैं जो गलतफहमीका प्रचार करती रही हैं। ऐसे हजारों लेखकोंको पत्रकार-कलाने उत्पन्न और प्रसिद्ध किया है। अपनी ऊट-पटांग बातोंका समर्थन करनेके लिए ये लेखक गत शताब्दीके सामाजिक नारे,- वैयक्तिक स्वाधीनताकी दुहाई देते रहे हैं। इस प्रकार साहित्यमें असंयत रचनाओंका बहुत अधिक प्रचार हुआ है। प्रत्येक प्रचारने नये प्रचारको जन्म दिया है। वैयक्तिक स्वाधीनताका सिद्धान्त साहित्यमें अबाध भावसे प्रवेश कर गया है। समाजमे उसे बाधाका सामना करना पड़ा है। वह बाधा समाजकी ओरसे भी रही है और प्रकृतिकी ओरसे भी, पर साहित्यमें उसे खुलकर खेलनेका मौका मिला है। इसकी चरम परिणति संसारमें बढ़ते हुए घासलेटी साहित्यके रूपमें हुई है। आचार-निष्ठ लोग इस मनोवृत्तिकी निन्दा करते ही रहे हैं और यह बढ़ती ही गयी है।

बलराज—जो प्रवृत्ति इतना अंकुश रखनेपर भी बढ़ती गयी है उसकी जड़ें बहुत गहरी गयी होंगी। आचार-निष्ठ व्यक्तियोंके निन्दा करनेसे वह खोटी नहीं हो जायगी। जो है, वही सत्य है।

मोहनलाल—समाजमें निश्चय ही मनुष्यको दो प्रकारके कर्तव्य-पालन करने पड़ते हैं। अपनी रुचि-अरुचि और राग-विरागके मामलेमें वह स्वाधीन है। परन्तु इस रुचि-अरुचिका परिणाम अगर ऐसा हो जो समाजके अन्य अङ्गको क्षति पहुँचाता हो तो वहाँ वह पराधीन है। इन दोनों वृत्तियोंकी चरम सीमाका नाम क्रमशः व्यक्तिवाद और समाजवाद है। व्यक्तिवादने समाचार पत्रोंका आश्रय ग्रहण करके साहित्यमें कुछ दिनोंतक अखण्ड राज्य किया है, क्योंकि इस क्षेत्रमें वह बाधा-हीन-सा था। हाल में ही इसकी प्रतिक्रिया शुरू हुई है। राज्यकी ओरसे पत्रोंपर प्रतिबन्ध तो पुरानी बात है, पर समाजकी ओरसे अभी कोई प्रतिबन्ध नहीं

लगाया गया। पर हवाका रुख जिस ओर है उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यके इस निरंकुश बच्चेका नियमन समाजको अपने हाथमें लेना होगा। आदर्शवादी पत्र एक प्रकारसे समाजके अंकुश ही कहे जा सकते हैं। और मैं बलराजजीके इस मतका प्रतिवाद करना चाहता हूँ कि जो कुछ है अर्थात् जो कुछ ऊपर ऊपरसे दिखाई देता है वही सत्य है। पुराने दार्शनिक पण्डित कहा करते थे कि प्रत्यक्ष कोई प्रमाण नहीं है, अनुमान प्रत्यक्षसे भी गहरा प्रमाण है। मैं कहता हूँ, यह भी ऊपर ही ऊपरकी बात है। जिस प्रकार विकल इन्द्रिय द्वारा देखना ठीक देखना नहीं है उसी प्रकार तामस चित्तका अनुमान गलत और सदोष है। बुद्धि भी बाहरी ही करण है यद्यपि अन्यान्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा वह अधिक भीतरी है। इन सबसे अतीत है आत्मा--

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

आत्मानुभूति ही सच्ची अनुभूति है। आचारनिष्ठ कहे जानेवाले लोगोंमेंसे अधिकांश जब इस गर्हित नीतिका या उस अनुचित परिपाटीका विरोध करते हैं तो मन और बुद्धिका आश्रय लेते हैं। वे भी सतहके सदाचारको ही प्रधानता देते हैं। सचाई औरभी गहरेमें होती है। मशीनने जिस साहित्यके अङ्गका अधिक प्रचार किया है उसने हमारे बाह्यकरणोंको ही उत्तेजना दी है। हमने सस्ती युक्तियोंका आश्रय लिया है, सतहपरके सदाचार और दुराचारको ही बड़ी बात समझना शुरू किया है। यह गलत रास्ता है।

बलराज—बिलकुल उल्टी बात कह रहे हैं आप। आत्मा यदि सचमुच ही कुछ है तो वह बाह्य करणोंका ही विकास है। विकास-परम्पराको एक बार ध्यानसे देख जाइये तो आपको मालूम होगा कि इन्द्रियाँ बहुत बादके विकास हैं; मन और भी बादका और बुद्धि उसके भी बाद। आत्मा नामक कोई पदार्थ यदि सचमुच ही हो तो वह बहुत हालका विकास

है। ये जितने भी सूक्ष्म हों, हैं स्थूलपर आधारित। मौलिक सत्ता स्थूल जड़ देह है, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा उसके विकार हैं। स्थूल देहके आकर्षण-विकर्षणको ही जटिल रूपमें आप शास्त्रों, दर्शनों और योग-क्रियाओंमें पाते हैं। आत्मा ही असलमें ऊपरी सतह है।

रत्नाकरजी—तो तुम, बलराज, मनुष्यकी उच्चतर वृत्तियोंमें विश्वास नहीं रखते?

बलराज—क्यों नहीं रखता हूँ। मनुष्यकी सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है—हाड़ चामका मनुष्य!

पण्डितजी—मनुष्यकी सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है—हाड़-चामका पशु नहीं!

पंडित **कमलेश शर्मा (प्राचीन साहित्यिक) और** पण्डित **बिहारीलालजी (पुराने समालोचक) तथा श्री० विमला तिवारी का प्रवेश।**

कमलेशजी—वाह, सभा तो खूब जमी है। हाथमें कौन-सी पुस्तक है बलराज? मार्क्सकी कोई नयी पुस्तक निकली है क्या? (हँसते हैं)

बलराज—(प्रणाम करके) नहीं पण्डितजी, मतिराम-ग्रन्थावली है!

कमलेशजी—मतिराम ग्रन्थावली? क्या हो गया तुम्हें बलराज, छिः-छिः, यह भी कोई पढ़ने लायक़ पुस्तक है? अरे कोई प्रगतिवादी रचना लेते, खास रूसमें रची हुई!

बिहारीलालजी—आप तो पण्डितजी, सब समय कटाक्ष ही करते रहते हैं। लड़केने पुस्तक ली तो मजाककी क्या जरूरत है? क्यों बलराज, तुम्हें ये पुस्तकें कुछ अच्छी लगने लगी हैं? इनका भी अपना रस है। पढ़ोगे तो नितान्त वञ्चित नहीं रहोगे। कुछ-न-कुछ अवश्य प्राप्त होगा। बुरा क्या है?

बलराज—जी, बुरा तो मैं कभी नहीं कहता। मगर इन पुस्तकोंको दो पेजसे आगे कभी पढ़ ही नहीं पाता। पन्ना खोलते ही इसमें बड़े भोंड़े किस्मकी एरिस्टोक्रेसी (रईसी) की बू आने लगती है। नायिकाएँ

हैं कि सिंगार-पटारमें उलझी ही रहती हैं, वियोगिनियाँ हैं कि उसाँसें लेती ही रहती हैं, नायक हैं कि प्रियाओंकी मिजाजपुर्सीके मारे दम ही नहीं ले पाते। इसे आप कविता कहते हैं ? जीवनसे विच्छिन्न, वास्तविकतासे दूर, पैरासाइट (परोपजीवी) लोगोंकी खुशामदसे भरपूर ! एरिस्टोक्रेसीका इतना भद्दा रूप शायद ही कहीं देखनेको मिले।

मोहनलाल—(धीरेसे) एरिस्टोक्रेसीकी मुहर लगा देनेसे ही कोई चीज खराब क्यों हो जायगी ?

रत्नाकरजी—हो सकती है, अगर शब्दका प्रयोग बे-समझे-बूझे किया जाय। एरिस्टोक्रेसीका अर्थ क्या है—पैसा ? बिल्कुल नहीं। गंगा पंसारी इस कसबेमें सबसे अधिक पैसोंवाला आदमी है, पर वह क्या रईस है ? नहीं। क्योंकि रईसी उसके रक्तमें नहीं है। एरिस्टोक्रेसीका सम्बन्ध रक्तसे है। भद्दा नाम क्यों देते हो ? अपना देशी नाम देकर देखो तो इस चीजकी महिमा साफ समझमें आ जायगी। यह शब्द है कौलीन्य। शरीर, मन और आत्मा, तीनोंकी कुलीनतासे रईसी आती है। यह एक दिनमें पैदा नहीं होती। इसे भी कल्चर करना पड़ता है। कई पुश्तोंकी साधनासे यह चीज बनती है। तुम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे सहृदयकी कल्पना भी एक दरिद्र किसानके घरमें कर सकते हो ? हरिश्चन्द्र कुलीनताकी देन थे, रईसीसे उपजे थे। रविन्द्रनाथ क्या एरिस्टोक्रेट नहीं हैं ? इतिहास देखो। बड़े-बड़े सभी आंदोलन रईसोंने शुरू किये हैं। चाहे वे जनक हों, बुद्ध हों या गांधी हों।

बलराज—आप बुजुर्ग हैं। बुरा न मानें तो आपकी पीढ़ीके सभी लोगोंमें यह एक बड़ा भारी दोष था कि वे समाजके कुछ गिने-चुने व्यक्तियोंका नाम लेकर उसपरसे सामान्य नियम निकाला करते थे। यह एकदम अवैज्ञानिक बात है। जो आर्थिक व्यवस्था आजतक चली आ रही है, उसमें यही संभव था। आप जिस चीजको प्रतिभा या कला या सहृदयता नाम दे रहे हैं, वह सब आपकी रईस-प्रधान समाज-व्यवस्थाकी

कल्पना है। आपने पहले तो एक ऐसी परिभाषा बनायी, जो आपके संस्कारोंके अनुकूल है; फिर, बादमें ऐसे व्यक्ति ढूँढ़े, जो उस परिभाषाके उदाहरणके लिए पूरे उतरते हैं। असलमें व्यक्तिको आपलोगोंने जो प्राधान्य दिया है, वह आवश्यकतासे बहुत अधिक है। आखिर, व्यक्ति परिस्थितियोंसे ही तो बनते हैं। सत्रहवीं शताब्दीमें कोई गाँधी क्यों नहीं हो गया ? और, बीसवीं शताब्दीका बन्दा बैरागी कै दिन अपनी शूरता दिखा सकता है !

कमलेशजी—कुछ फिक्र मत करो, बेटा ! तुम्हारे लड़के भी तुम्हें ललकार कर कहेंगे कि आप लोगोंकी पीढ़ीमें यह एक बड़ा भारी दोष था कि सभी बहकी-बहकी बातें किया करते थे। कोई ऐसी चीज जिसे छुआ जा सके, देखा जा सके, समझा जा सके, उनके दिमागसे निकली ही नहीं।

मोहनलाल—तबकी बात तब देखी जायगी। अभी तो आप बलराजजीकी बातोंका कोई ठोस जवाब नहीं दे रहे हैं।

कमलेशजी—देता हूँ, घबराओ मत; हमारी पीढ़ी व्यक्तिपर विश्वास करती थी। व्यक्तिके बिना तुम किसी जातिके इतिहासकी कल्पना कर सकते हो ! तुम क्या हिंदुओंके एक ऐसे इतिहासककी बात सोच सकते हो, जिसमें कालिदास और भवभूति न हों, तुलसीदास और बिहारी न हों, हर्ष और राणाप्रताप न हों ! तुम परिस्थितियोंकी बात कर रहे थे। शिवाजीके अनुकूल कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो शिवाजीको पैदा कर सकीं ? इतिहास साक्षी है कि दरिद्रता, हीनता और बंधनोंमें ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं, जो जबर्दस्त-से-जबर्दस्त सत्ताधारियोंकी कीर्ति छीन लेते हैं। जो काम बड़े-बड़े सम्राट् अक्षर-बहुल कवित्त-जैसी वाहिनियोंसे नहीं कर पाते, वह वे दोहेकी दुनालीसे कर डालते हैं। व्यक्तियोंने इतिहास बनाये हैं, व्यक्तियोंके कारण मरी हुई जातियोंमें जान आयी है, व्यक्तियोंके कारण ही जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गयी हैं। सही बात तो यह है कि व्यक्तियोंके

बिना जातिका कोई अर्थ ही नहीं होता। आज जो बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं, वे किनके करते ? निश्चय ही कुछ थोड़ेसे लोकोत्तर प्रतिभाशाली व्यक्तियोंके कारण। तुम नहीं मानते ?

मोहनलाल—आप, शायद आविष्कारोंके द्वारा जो प्रगति हुई है, उसकी ओर इशारा करना चाहते हैं ?

कमलेशजी—हाँ, और प्रत्येक आविष्कारके पीछे एक व्यक्ति है, जिसको परिस्थितियोंने कभी-कभी एकदम सहायता नहीं पहुँचायी है, उल्टे बाधा पहुँचायी है।

बलराज—व्यक्तिकी बात आप व्यर्थ ही जोड़ रहे हैं। आविष्कारोंकी बात ठीक है। प्रत्येक आविष्कारके पीछे कोई-न-कोई आर्थिक कारण रहा है। मनुष्यको जीवनकी लड़ाईमें जब बाधा प्राप्त हुई है, तो उसने उसका प्रतिकार किया है। चूहे भी लोकोत्तर चमत्कारकारी आविष्कार किया करते हैं। मनोविज्ञानकी प्रयोगशालामें ऐसे आविष्कारोंके अनेक रेकर्ड हैं। आप विश्वास मानें, जब चूहा अंधकारमें बिजलीके धक्केसे बचकर निकलनेका मार्ग ढूंढ़ता है, तो चूहोंकी दुनियामें वह न्यूटन और कोपरनिकसके स्थानका ही अधिकारी होता है। जो आर्थिक व्यवस्था चल पड़ी है, उसमेंसे बहुत कम लोग आविष्कार करनेकी योग्यतावाले निकल पाते हैं। अधिकांश लोग इसी योग्य होते हैं कि मजूरी करते रहें और पेट भरते रहें। मैं दो सौ आविष्कारकोंका नाम आपको बता सकता हूँ, जो और परिस्थितिमें होते तो भाड़ झोंकते होते। प्रतिभा तो बहुत बिखरी हुई है, पर सुयोग कहाँ है ?

बिहारीलालजी—भई, व्यक्तिकी प्रधानता तो मुझे भी स्वीकार है। मैंने इतिहास पढ़े हैं और लिखे भी हैं। मेरी अपनी राय यह है कि प्रतिभा नामकी एक शाश्वत वस्तु है, जो कभी इस व्यक्तिमें और कभी उस व्यक्तिमें प्रकट होती है। शेक्सपीयर और देव दो बिलकुल भिन्न

परिस्थितियोंमें पैदा हुए थे; पर, प्रतिभाका विकास दोनोंमें समान भावसे हुआ।

कमलेशजी—(गुनगुनाकार) 'काह कहौं तुम्हें गंगकी गैलमें गीत मदारिनके लगे गावन।'

रत्नाकरजी—प्रत्येक आविष्कारके पीछे आर्थिक कारण हुआ करता है! क्यों बलराज, तुम यही कह रहे थे न? मैं तुम्हारी बात समझनेकी कोशिश कर रहा हूँ। संगीतके विषयमें तुम्हारी क्या राय है? बैजू बावराने या तानसेनने जिन नये सुरोंका आविष्कार किया था, उनके पीछे भी पेटकी चिंता थी? और कविता? तुलसीदासने रुपयेके लिए कविता लिखी?

बलराज—जी हाँ, मैं कहता यह था कि आदमीने जो कुछ भी आविष्कार किया है वह पेटके लिए, पर मेरी बात स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए एकाध घंटेकी बात पर्याप्त नहीं है। मुझे भय हो रहा है कि आपकी पीढ़ीके लोग उसका मजाक उड़ायेंगे।

कमलेशजी—तुम समझते हो कि ज्ञानका ठेका तुम्हीं लोगोंने ले रखा है—

मगर एक इल्तमाश इन नौजवानोंसे मैं करता हूँ।
खुदाके वास्ते अपने बुजुर्गोंका अदब सीखें॥

पण्डितजी—बलराज, तुम अपनी बात साफ-साफ क्यों नहीं कहते? आखिर इन वृद्ध आचार्योंको विचार करनेका मौका भी तो दो!

कमलेशजी—तो जनाबमन्, आप ही क्यों नहीं समझा देते? बूढ़ोंको कुछ अक्ल तो हो जाय!

रत्नाकरजी—हाँ, पण्डितजी, तुम्हीं कहो; मैं मजाकके मूडमें नहीं हूँ।

पण्डितजी—मैं नहीं जानता कि बलराज इसका क्या उत्तर देंगे; पर, जो लोग उनकी तरह युक्ति पेश करते हैं, वे जो कुछ कहते हैं उसे मैं बता सकता हूँ। आपको किसी वस्तुके वास्तविक कारणको समझना

हो तो आजकी जटिल समाज-व्यवस्थाके उपयुक्त उदाहरण व्यक्ति नहीं होंगे। आप आदिम युगके मनुष्योंके समाजकी कल्पना करें। संगीत क्या है? मनका विश्राम! खेतोंमें दिनभर काम करते-करते थकी हुई मजदूरिनें गाती हुई घर जाती हैं, गाती हुई खेतोंमें काम करती हैं। गाना उनका उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य आर्थिक है। गाना अपने आप उनको आराम पहुँचानेके लिए—आर्थिक उद्देश्यकी पूर्तिकी सहायताके लिए—बन जाता है। वह कोलतार और साबुनकी भाँति फोकटकी पैदावार है—बाई प्रोडक्ट है—और चीजोंको बनाते-बनाते अपने आप बन गयी हुई चीज है। इसीलिए इसके पीछे भी आर्थिक कारण नहीं है—ऐसा तो नहीं कह सकते। क्यों बलराज!

बलराज—बिलकुल ठीक कहते हैं आप; जिसको आप आविष्कार कहते हैं, वह कोई एक दिनमें निकली हुई चीज नहीं होती। सदियोंसे उसकी तैयारी होती रहती है। उस सिलसिलेकी अन्तिम परिणतिको आप आविष्कार कहते हैं। यह आविष्कार स्वयं अन्य आविष्कारका कारण होता है। अगर किसी भी आविष्कारकी आप छानबीन करें, तो आपको पता चलेगा कि सदियोंसे पेटकी मारके कारण आदमी उस बातको खोज निकालनेके लिए सिर मार रहा था।

रत्नाकरजी—शाबाश बेटा, मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। तुमने पतेकी बात कही है। जरा-सी गलती तुमसे हो गयी है। तुम जिसे पेटकी मार कहते हो, आर्थिक आवश्यकता कहते हो, उसे मैं जीवनकी आवश्यकता कहना चाहता हूँ। आर्थिक आवश्यकता उसका एक हिस्सा है। बहुत-से आविष्कार और बहुत-सा इतिहास प्रेमके कारण हुआ है। तुम नहीं मानते?

बलराज—आप मतिराम-ग्रन्थावली जैसे आविष्कारोंकी बात कहते होंगे?

रत्नाकरजी—अबकी बार तुम्हारा पलड़ा हल्का होता जा रहा है।

गम्भीर प्रसंगमें मजाक छेड़ना हारनेका लक्षण है। हाँ, मैं मतिराम-ग्रन्थावली जैसे आविष्कारोंकी भी बात कह रहा हूँ। तुम शायद उस बातको आविष्कार नहीं मानना चाहते जिसमें यान्त्रिक होशियारी न हो। परन्तु याद रखो कि यन्त्रगत दक्षता मनुष्य नहीं बनाती। एक बन्दर अगर साइकिलपर चढ़ने लगे और सिगरेट पीने लगे तो भी वह बन्दर ही रहेगा। मैं यान्त्रिक आविष्कारको खोटा नहीं कहता; पर वही एकमात्र सत्य नहीं है। दुनियामें उससे बड़ी-बड़ी बातें भी हैं। आज जिसके पास अधिकसे अधिक भयंकर वैज्ञानिक उपज है, वही सभ्य कहला रहा है, चाहे उसमें पशुता अपनी चरम सीमाको पहुँच चुकी हो। यही वर्तमान युगका सबसे बड़ा अभिशाप है। वह वस्तु जो हृदयको मुलायम बनाती है, जो परदुःखकी समवेदना देती है, तुम्हारी सभ्यतामें बहुत नगण्य मानी जाती है। काव्य ऐसी ही वस्तु है। वह एरिस्टोक्रेसी या ऑटोक्रेसीकी खुशामद नहीं करती। वह मनुष्यके हृदयको कोमल बनाती है, उसे दूसरोंकी पीड़ाके प्रति सहानुभूतिशील बनाती है। तुम्हारी यान्त्रिक सभ्यता दानवी मशीनकी ताकत रखती है और संसारको मशीनसे अधिक नहीं समझने देती। मतिराम-ग्रन्थावली उसकी शाश्वत प्रतिद्वन्द्विनी है। वह मृदु और दृढ़ कण्ठसे कह रही है कि यान्त्रिकताका दर्प बहुत दिनतक नहीं टिकेगा, मैं अभी जीवित हूँ।

मोहनलाल—हम मूल प्रश्नसे दूर हो गये। बलराजजीका प्रश्न जहाँका तहाँ है।

रत्नाकरजी—मुझे याद है, मैं उसी प्रश्नपर आ रहा हूँ। शर्माजीने व्यक्तिकी महिमा बतायी थी और बलराजने कहा था कि व्यक्ति परिस्थितियोंकी उपज हैं। मैं दोनोंको मानता हूँ, इसीलिए मेरी बात तीसरी हो जाती है। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति ही देशका नक्शा बदल देते हैं, परन्तु ये व्यक्ति अपने आप नहीं पैदा हो जाते। उनके लिए उपयुक्त परिस्थिति और उचित वातावरणकी जरूरत होती है। व्यक्तियोंको भी

सुन्दर मूर्तियोंकी भाँति ढालना पड़ता है। संसारके अर्थशास्त्रियोंसे पूछो तो शायद वे बतावें कि अगर सब धन सब लोगोंमें बराबर बाँट दिया जाय तो भी सब लोग औसत आरामके ढंगपर नहीं रह सकते। हजारों आदमियोंको आधपेट भोजन देकर जिलाये रखनेकी अपेक्षा यह अच्छा है कि कुछ परिवारोंको सदियोंतक ऐसी सुविधाएँ दी जायँ, जिससे ऐसे पुरुष उत्पन्न हों, जो संसारको ऊपर उठा सकें, जो सर्वसाधारणकी सुख-सुविधाके उत्तम साधन ढूँढ़ निकालें। जंगली जातियाँ, जिनमें ऐसी रईसी नहीं उपजी, अबतक जहाँकी तहाँ पड़ी हुई हैं। साम्यवादने उनको असभ्य अवस्थामें रहनेको बाध्य किया है। दूसरी तरफ उन जातियोंको देखो जो साम्राज्यवादी हैं, जो सामन्त-बहुल हैं, जो रईसीकी कदर करती हैं। इन्होंने ही संसारको वह सब कुछ दिया है, जिसे तुम मनुष्यता कहते हो, कला कहते हो, काव्य कहते हो, दर्शन कहते हो। भारतवर्ष ऐसा ही देश है, ग्रीस और रोम ऐसे ही थे, इङ्गलैण्ड और फ्रांसका यही किस्सा है। क्यों मोहनलाल, हम प्रश्नसे दूर तो नहीं जा रहे हैं न? तुम्हारे अधरोष्ठ फड़क रहे हैं। तुम कुछ कहना चाहते थे क्या?

मोहन०—जी, मैं आपकी बात समझनेकी कोशिश कर रहा हूँ। आप वृद्ध लोगोंके सामने हमारी क्या हस्ती है?

कमलेशजी—तुम शौकसे अपनी बातें कहे जाओ बेटा! नाराज होनेवाले खूँसट कहीं और होंगे।

मोहन०—जी, रत्नाकरजीकी बात दो कारणोंसे मेरी समझमें नहीं आ रही है। एक तो अगर उनकी बात मान ली जाय तो यह समझमें नहीं आता कि किसी खास परिवारको सदियोंतक सुविधा देनेसे अच्छे आदमी ही कैसे पैदा हो सकते हैं। बुरे भी तो हो सकते हैं और इतिहासमें इस बातका सबूत है कि बुराइयाँ इस प्रथासे जितनी पैदा हुई हैं, उतनी भलाइयाँ नहीं। जिनको आपने अभी सद्गुणके रूपमें गिनाया है; उनकी अगर तह खोल खोलकर जाँचकी जाय तो मेरी बात ज्यादा स्पष्ट हो

जायगी। कविताकी बात ही लीजिये और उसमें भी हमारी आलोच्य कविता रीति-काव्यकी। परकीयाओं और सामान्याओंका जो यह निर्दोष कलापूर्ण चित्रण है, उसके मूलमें क्या है? रईसीकी उच्छृङ्खल कामवासना। जिस समय रईसी अपने चढ़ावपर नहीं आयी होगी उस समय इस प्रकारकी वासना निश्चय ही गर्हित मानी जाती रही होगी; पर रईसीने जीवनमें उसका उपभोग ही नहीं किया, इस भयंकर कुरीतिको इस प्रकार विज्ञापित किया, मानों यह एक गुण है। जनसाधारण विश्वास करने लगा कि रईस हैं इसीलिए ऐसी सुन्दर कविता बन रही है। तो पहला कारण जो आपकी बात समझी जानेमें बाधक है, वह यह है कि आप पहले मान लेते हैं कि यह कविता अच्छी है, वह कला अच्छी है, साम्राज्य फैलाना अच्छा है, और तब आप इनके कारणस्वरूप रईसी प्रथाका समर्थन करते हैं। रीतिकाव्यमें जो कुछ भी अच्छा समझा जाता है, उसकी जाँच कीजिये, आपको फौरन पता चल जायगा कि शुरू-शुरूमें वह किसी रईसी बुराईके रूपमें थी। मुझे आप गलत न समझियेगा। मैं बुराई और भलाईके शब्दोंका व्यवहार उनके रूढ़ि-समर्थक अर्थोंमें कर रहा हूँ। ऐसा करनेसे मेरा अभिप्राय यह है कि आपको विश्वास दिला सकूँ कि रईसी प्रथाने जिनको बुराई समझा है, उन्हें भलाईके नामपर उत्तेजन भी दिया है।

बलराज—आप अपने दूसरे कारण भी कह जाइये।

मोहनलाल—जी, दूसरा कारण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। आपने (रत्नाकरजीने) जो बात बतायी वह वही चीज है जिसे किसी तथाकथित गांधीवादीने अत्यन्त भद्दे तरीकेपर 'आरामकी सभ्यता' नाम दे दिया है। खैर, पुराने जमानेमें क्या हुआ था, इसका तो मैं या आप केवल अनुमान ही कर सकते हैं, लेकिन हमारी आँखोंके सामने जो कुछ घट रहा है, उसीपरसे अन्दाजा लगाया जाय तो आपकी बातोंमें सान्त्वना पाने लायक कुछ नहीं रह जाता। मशीनें बनी थीं तो बड़े-बड़े विचारकोंने उम्मीदें बाँधी थीं कि संसारका बहुत परित्राण हो जायगा। मशीनें कम

समयमें अधिक माल तैयार करेंगी और इस प्रकार अधिकाधिक फुरसत मिलेगी और लोग ज्यादातर चिन्तन और मननमें समय व्यतीत करेंगे और ऐसी बहुत-सी समस्याएँ, जो अभी तक हल नहीं हो सकी हैं, चुटकी बजाते हल हो जायँगी। पर हो क्या रहा है ? मैं समझता हूँ, मशीनोंने हमारी चिन्ताको बहुत पीछे ढकेल दिया है। कुछ थोड़े-से लोगोंको इतनी अधिक सुविधा मिली है कि वे दिन-रात ऐसे महापापोंकी फिक्रमें व्यस्त रहते हैं, जिनसे जिंदगीमें कुछ लज्जत आ जाय। दूसरी तरफ भुक्खड़ मजदूरों और किसानोंके कंकाल हैं, जो दिनभर जान लड़ाकर भी पेट नहीं भर पाते। इस आराम और सुविधाने वैयक्तिक अर्थनीतिको इतना प्रबल बना दिया है कि विराट् जनसमूहोंका भाग्य मुट्ठीभर खाली दिमाग और भरी गाँठके आदमियोंके हाथमें है। इसमें शरीर, मन और आत्माकी कुलीनता तो सिद्ध हो चुकी, इनकी कब्र जरूर तैयार हो रही है। मैं मानता हूँ कि फुरसत समस्त कला, विज्ञान और दर्शनोंकी जननी है, पर इस फुरसतका अर्थ कामका अभाव नहीं है। आप जिन परोपजीवी पैरासाइटोंकी वकालत कर रहे हैं, उनके पास अभावरूप फुरसत होती है। गुस्ताखी माफ हो तो आप इस प्रकारके लोगोंका पक्ष लेकर कार्यकी महिमा कम कर रहे हैं। परिश्रम अपने आपमें एक तपस्या है।

बलराज—वाह भाई, वाह, आपने बड़ी शानदार बात कही है, सुनकर तबीयत साफ हो गयी। इतना और जोड़ दीजीये कि इस अभावरूप फुरसतके इर्द-गिर्द जो कला और दर्शन उत्पन्न होते हैं, वे भी अभावरूप होते हैं। धनिकतन्त्र आपकी ऐसी कला, ऐसी फिलासफी या ऐसी तर्क-प्रणालीको पनपने ही नहीं देगा, जो धनिकतन्त्रके विरुद्ध पड़े। उसने सत्-असत्की अपनी परिभाषाएँ बना रखी हैं, तुम अगर कविता लिखो तो उस परिभाषाके अनुसार ठीक उतरनी चाहिये, दर्शन लिखो तो उस अर्थ-चक्रके अनुकूल होना चाहिये। वस्तुतः रीतिकाव्य वही वस्तु है जिसमें कवि स्वतन्त्र भावसे कुछ चिंता नहीं करता। उसे समाजकी ओरसे बनी-

बनायी, गढ़ी-छिली शब्दावली मिल जाती है, परिभाषा प्राप्त हो जाती है और उसीपरसे वह अपना छकड़ा हाँक देता है। यह गलत बात है कि रीतिकाल सत्रहवीं शताब्दीसे शुरू होता है। वह हमेशा रहता है, कभी दबकर, कभी जमकर। आजकल क्या वह कहीं चला गया है? छायावादियोंके अनन्तके पथपर वह क्या जम नहीं गया है?

पण्डितजी—मेरा ख्याल है बलराजजी, कि हमने मूल विषयको छोड़कर अवान्तर बातोंपर ही बहुत बहस की है—

कमलेशजी—जमाना ही लपक-झपकका है।

पण्डितजी—आप अगर रीतिकाव्यपर जानने योग्य प्रामाणिक पण्डितों के मत सुनना चाहते हैं तो आज की इस बैठक में सौभाग्यवश उपस्थित पण्डितोंकी उपस्थितिका पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहिये। रत्नाकरजीकी बात भी हमने आधी ही सुनी है, समझी उसकी भी आधी है। उन्होंने शुरू-में ही शरीर, मन और आत्माके सुसंस्कृत होनेकी बात कही थी, वह हमने भुला दी है। उन्होंने संयमकी बात उठायी थी, उसकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया। पहले हमें मूल विषयको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। फिर उसे वृहत्तर जीवनका पटभूमिकापर रखकर जाँच करनेकी हमें स्वाधी-नता रहेगी। अबतक हमने आप लोगोंकी बात सुनकर जो कुछ समझा है, उससे इस विषयमें तो सन्देह नहीं रह जाता कि रीतिकाव्यमें रईसाना समाजकी बू है। फिर यह भी निश्चित है कि व्यक्ति इस समाजमें प्रधान व तु है, पर अगर मतिराम-ग्रन्थावलीको एक बार अत्यन्त ध्यानपूर्वक भी पढ जाइये, तो यह पता नहीं लग सकेगा कि यह व्यक्ति मतिराम कौन है, उसने दुनियाको क्या देखा और कैसा देखा? उसको कोई कायदा-कानून अच्छा-बुरा लगा भी या नहीं? सब कुछ एक टाइपकी बात है। नायिकाओंके टाइप हैं, नायकोंके टाइप हैं, आनन्द और हर्षके टाइप हैं, कष्ट और वियोगके भी टाइप हैं। बिहारीकी अपेक्षा मतिरामने व्यक्तिगत दृष्टिसे क्या विशेष देखा था या कितना विशेष देखा था, इसका कोई

जवाब साधारण पाठक नहीं खोज सकता। इन विद्वानोंसे हमें ऐसे ही विषयोंकी चर्चा चलानी चाहिये थी। फिर, हमें यह भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये कि इतिहासके विशाल पटपर इस जातिके काव्यका कोई महत्त्व है भी या नहीं। मुझे तो इस काव्यकी नैतिकता, ईश्वर, धर्म, समाज सबके विषयमें प्रश्न सूझ रहे हैं; पर मैं जानता हूँ कि प्रश्नोंसे समस्याओंकी मूल भित्तितक पहुँचनेकी जर्नलिस्टिक रीति सर्वत्र फल-प्रसू नहीं भी होती। हमें प्रश्नोंका ताँता न बाँधकर कुछ खास विषयोंपर इन पण्डितोंकी बातें सुननी चाहिये।

बलराज—अर्थात् आप बृहत्तर जीवनसे काटकर इसे अलग रखकर डिसेक्ट (चीर-फाड़) करना चाहते हैं।

पण्डितजी—बिलकुल नहीं, मैं किसी वस्तुको असीम काल-प्रवाहके भीतरसे देखनेका पक्षपाती हूँ। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती घटनाका परिणाम है। वह अपने आपमें बुरी भी नहीं है, भली भी नहीं है। अगर किसी भी घटनाको—वह कितनी ही नगण्य क्यों न दिखाती हो—हम ठीक-ठीक समझ सकें, तो उसकी पूर्ववर्ती घटनाको समझ सकते हैं और परवर्ती घटनाका अनुमान कर सकते हैं। परवर्ती घटनाओंका अनुमान लगाते समय या पूर्ववर्ती घटनाका स्वरूप निर्णय करते समय हमें पार्श्ववर्ती अन्य घटनाओंका भी ध्यान रखना चाहिये। जितना ही हम इन पार्श्ववर्ती घटनाओंको ठीक-ठीक समझ सकेंगे, अभीष्ट-निर्णयमें हमें उतनी ही सफलता मिलेगी। मैं किसी वस्तुको अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं मानता—ईश्वर और आत्माको भी नहीं। परन्तु मेरी पहली और अन्तिम शर्त यह है कि जिस वस्तुकी जाँच करनेके लिए हमने प्रयत्न शुरू किया है उसका यथार्थ स्वरूप हमें मालूम हो जाना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब उस वस्तुके जितने संभव हों उतने अवयव अलग-अलग करके हम ब्योरेवार उसकी पड़ताल कर लें। ऐसा करते समय आपाततः ऐसा लग सकता है कि हम उक्त वस्तुको स्वतन्त्र और अन्यनिरपेक्ष

माननेकी गलती कर रहे हैं, पर बात ऐसी नहीं है। बगीचेकी सुगन्धित हवाकी सुगन्धिका विश्लेषण करना और उसे समस्त वायुमण्डलसे विच्छिन्न समझना एक ही बात नहीं है।

बलराज—मैं आपकी बात समझ रहा हूँ। पर मुझे भय इस बातका है कि गुरुजनोंसे मैं पहले ही क्षमा माँग लूँ, जो लोग व्यक्तिवादी होते हैं या स्वतन्त्र आत्माके स्वतन्त्र कर्तृत्वमें अतिरिक्त विश्वास-पोषण करते हैं, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते हैं। यह नहीं कि परवर्ती घटनाको देखकर पूर्ववर्तीका स्वरूप-निर्णय करें, बल्कि यह कि न जाने कबकी सड़ी-गली परिभाषाओंपरसे परवर्ती घटनाका स्वरूप-निर्णय करते हैं। यह बात अत्यन्त हास्यास्पद तब हो जाती है, जब इन वस्तुओंका स्वरूप इनके भी बाद बनी परिभाषाओंपरसे निर्णीत करनेका प्रयत्न किया जाता है। एक उदाहरण दूँ—बुद्धि रखनेवाले सभी जानते हैं कि साहित्यदर्पणमें महाकाव्यका जो लक्षण दिया हुआ है, जिसमें एक प्रख्यात वंशके कई वीर पुरुषोंका काव्यका नायक हो सकना स्वीकार किया गया है, वह कालिदासके रघुवंशको देखकर उद्भावित हुआ था। परन्तु, आजकल कई टीकाकारोंने रघुवंशके काव्यत्वका प्रमाण उसी लक्षण-श्लोकको बताया है। यह कितनी बेतुकी बात है!

कमलेशजी—क्या कहना है!

बलराज—हाँ, और यह दूसरी बात भी हमें खटकती है। आप किसी चीजको महज विस्मयादिबोधक अव्ययों और वाक्योंके प्रयोगसे बढ़ा या घटा देते हैं। शर्माजी इस प्रथाके जनक हैं। केवल यह कहकर कि 'कल्पनाकी कितनी ऊँची उड़ान है!' आप किसी वस्तुका स्वरूप नहीं निर्णय कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि ऐसा करके आप उसे दुर्बोध्य बना देते हैं। मैं आप लोगोंकी उस आतङ्कवादिनी शैलीको भी बहुत खतरनाक मानता हूँ, जो केवल पाठकोंको आतङ्कित करके बुरी तरह रगड़ देती है। मैं यह नहीं जानना चाहता कि 'क'ने हावोंकी कैसी सुन्दर योजना की है

या 'ख'ने विब्बोकोंका कैसा प्रदर्शन किया है, मैं हावों और विब्बोकोंको महत्त्व देनेवाली मनोवृत्तिका विश्लेषण चाहता हूँ।

पण्डितजी—आपने इन पण्डितोंको ठीक नहीं समझा बलराजजी! किसी वस्तुके स्वरूपका निर्णय करना और उसे तीव्र भावसे अनुभव करना एक ही बात नहीं है। निर्णयके प्रसंगमें विस्मयादिबोधक अव्यय बाधक होते हैं, तीव्र भावसे अनुभव करानेके प्रसङ्गमें नहीं। शर्माजीने निर्णयकी ओर कम ध्यान दिया है, अनुभव करानेकी ओर अधिक। उन्होंने मान लिया था कि जिस सुकुमारताको, जिस शालीनताको और जिस भंगिमाको वे अच्छी मानते हैं, उन्हें आप भी वैसा ही मानते हैं। पर, आज जब उन्हें हमने इस बातका अवसर दिया है कि वे उन बातोंको हमें 'अच्छीके' रूपमें समझा दें तो उतावलेपनकी क्या जरूरत है! और बातको भी आपने अतिरञ्जित रूपमें रखा है। क्या रूपहीन चिन्ताओंको रूपहीन परिभाषाओंमें कहना गलत ढंग है? वे जब हावों और विब्बोकोंका नाम लेते हैं तो इसलिए नहीं कि पाठक दबक जाय या आतङ्कित हो जाय, बल्कि इसलिए कि कमसे कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक बात कह सकें। बेशक आपको उन्हींके मुँहसे उन हावों और विब्बोकोंके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्तिकी व्याख्या सुननेका हक है। मैं समझता हूँ, वे हमें निराश नहीं करेंगे।

श्रीमती तिवारी—मैं बड़े धैर्यसे अबतक आपलोगोंकी बात सुनती रही; पर मुझे ऐसा लग रहा है कि आप लोगोंने वास्तविक बातको छुआ ही नहीं। रीतिकाव्यमें स्त्रीका इतना अधिक, इतना गलत और इतना वाहियात चित्रण है कि वह स्वयमेव अपना प्रतिवाद हो गया है। आपने सोचा ही नहीं कि जिस काव्यकी चर्चा आप करने जा रहे हैं, वह वस्तुतः एक विराट् शून्य है, एक गंदा जंजल है, एक मिथ्या ढकोसला है।

रत्नाकरजी—आपने विषयको बिलकुल दूसरे कोणसे देखा है। वहाँसे देखिये तो आपको स्त्री-चरित्रकी अपेक्षा रीतिकाव्यका पुरुष-चरित्र

अधिक हीन, अधिक असत्य और अधिक वाहियात दीखेगा। परन्तु, किसी वस्तुको किसी खास कोणसे देखना, सही देखना नहीं है।

कमलेशजी—मगर श्रीमती तिवारीका दृष्टिकोण एकदम उड़ा देनेकी चीज नहीं है। उसकी भी क्यों न जाँच हो!

रत्नाकरजी—कोई हर्ज नहीं, मैं केवल उस दृष्टिकोणकी बात कह रहा था। वस्तुकी यथार्थता उसकी समग्रतामेंसे प्रकट होती है, इस या उस पार्श्वकी स्थितिपरसे नहीं।

रत्नाकरदास—हाँ पण्डितजी, तुम साहित्यकी बात कहते-कहते इतिहासकी बात कहने लगे थे। तुम्हारी बात कुछ ठीक समझमें नहीं आयी। क्या उसका मतलब मैं यह समझूँ कि साहित्यके इतिहासमें पुस्तकों और पुस्तक-लेखकोंका कोई स्थान है ही नहीं?

पण्डितजी—जी नहीं, मैं यह कह रहा था कि साहित्यका इतिहास ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके उद्भव और विलयकी कहानी नहीं है। वह काल-स्रोतमें बहे आते हुए जीवन्त समाजकी विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधाराकी ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियोंसे गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशितकर रही है। साहित्यके इतिहासमें हम अपने आपको ही पढ़नेका सूत्र पाते हैं। जो प्राणधारा नाना देश-कालकी विभिन्न परिस्थितियोंसे गुजरती हुई हमारे भीतरतक पहुँची है वही किसी भी इतिहासका मुख्य लक्ष्य है। मैं उन समस्त पुस्तकोंका एक स्वरसे प्रतिवाद करता हूँ जो इतिहासके नामपर चला दी गयी हैं, पर इस प्राणधाराको प्रकट करनेमें असमर्थ हैं। व्यक्तियोंका असम्बद्ध विवरण हमें बार-बार याद दिलाता है कि इस बृहत् मानव-इतिहासमें एक ही बात बार-बार घटित हुई है—मृत्यु! जीवनका प्रवाह अव्वल तो उसमें दिखाई ही नहीं देता और यदि क्वचित् कदाचित् दिख गया तो ऐसा लगता है कि बार-बार वह मरुकान्तरमें खो गया है। प्रत्येक बार उसे नये सिरेसे

यात्रा करनी पड़ी है। यह मनोवृत्ति ही गलत है। मैं इतिहासको जीवनका अनिरुद्ध स्रोत मानता हूँ और दृढ़ताके साथ कहना चाहता हूँ कि यही मानना सही मानना है।

बलराज—वाह पण्डितजी, आपने बड़ी शानदार बात कही है। सुनकर तबियत साफ हो गयी। इतना और जोड़ दीजिये कि इतिहास कभी अपने आपको दुहराया नहीं करता। अंग्रेजीकी वह कहावत इस देशमें वेदवाक्यकी तरह मान ली गयी है कि इतिहास अपने आपको दुहराया करता है। प्रतिक्षण परिस्थितियाँ बदल रही हैं, क्रिया और प्रतिक्रियाका रूप बदलता जा रहा है और प्रतिक्षण जीवन-धारा अपने आपको नवीन रूपमें प्रकाशित कर रही है। इसी नवीनताके अनिरुद्ध प्रवाहका नाम इतिहास है। इस दुनियाकी सबसे अधिक शानदार बात यही है कि हम चल रहे हैं, स्थिर नहीं हैं। किसी जमानेमें शाश्वत और सनातन होना बड़ा भारी गुण माना जाता था। वस्तुतः यह शाश्वत और सनातन मनुष्यकी एक अतृप्त वाञ्छासे उत्पन्न सुखद कल्पना है। सब मिलाकर इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवनको कितना प्यार करता है।

पण्डितजी—जरा रुको बलराजजी, तुमने बहुत-सी बातें एकमें सान दी हैं। मैं नवीनता और क्षणिकताको अलग-अलग वस्तु मानता हूँ। नवीनता जीवनका प्रतीक है, क्षणिकता मृत्युका। मैं नित्य नवीन होनेको मानव-जीवनका मूल सूत्र मानता हूँ।

रत्नाकरजी—'अविचारित रमणीय' इसीको कहते हैं। अच्छा पण्डितजी, सचमुच ही क्या मृत्यु इतिहासका एक बड़ा सत्य नहीं है? मैं तो इतिहासकी सुदीर्घ परम्परापर एक दृष्टि डालता हूँ तो शुरूसे आखिरतक उसमें मृत्युकी काली छाया दिखाई देती है। भारतवर्ष बहुत पुराना देश है। इतना पुराना कि ऐतिहासिकोंके अटकल बार-बार धक्के खाकर पीछेकी ओर ही भागते रहते हैं। और आज यह कह सकना बड़ा मुश्किल है कि उसके प्रागैतिहासिक कालकी मर्यादा कहाँ रखी जाय? बड़ी-बड़ी

सभ्यताएँ उसकी आसमुद्र-विस्तीर्ण भूमिपर उद्भूत और विलीन हो चुकी हैं, बड़े-बड़े धर्म और दर्शन प्रचलित और विस्मृत हो चुके हैं। बड़े-बड़े विजेता और लुटेरे इसको समान भावसे विध्वस्त कर चुके हैं। और सर्वत्र एक ही बात अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई है—मृत्यु ! मोहनजोदड़ोकी समृद्ध नागरिक सभ्यता इस प्रकार मरी जान पड़ती है जैसे उसके हृदयकी गति एकाएक बन्द हो गयी हो। रोग नहीं, शोक नहीं और हठात् मृत्यु ! महान् मौर्यसम्राटोंके स्थापित स्मृतिचिह्नोंको जैसे लकवा मार गया हो, ज्योंके त्यों खड़े हैं, पर जीवनी-शक्तिसे हीन, हिलने-डुलनेमें असमर्थ ! मैं जब महरौलीके लौहस्तम्भपर खुदी हुई चन्द्रगुप्तकी कीर्ति-कथाको पढ़ता हूँ तो आश्चर्यसे देखता ही रह जाता हूँ। कहाँ है वह विशाल भुजा जिसपर शत्रुओंके खड्गसे कीर्ति-कथा लिखी गयी थी, जो बंगसे लेकर वाह्लीक तक आतङ्कित किये हुए था और 'आज भी' जिसके पराक्रमकी सुगन्धित हवा दक्षिणी समुद्रको सुवासित कर रही है ! 'आज भी'में कूटकालकी कुटिल हँसी मूर्तिमान हो गयी है—अहा ! 'यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधि-र्वीर्यानिलैर्दक्षिणः' !! और फिर भी तुम कहते हो—मृत्यु इतिहासका सत्य नहीं है। मिस्रके ऊँचे-ऊँचे पिरामिडोंकी बात सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। किसी युगमें वह मानव-वीर्यका अप्रतिद्वन्द्वी प्रदर्शन था, पर आज अगर अमेरिकन सोना साल-दो सालके लिए भी वहाँ जाना बन्द हो जाय तो विश्वास मानो कि रेगिस्तानी आँधी उसके ऊँचेसे ऊँचे शिखरको हमेशाके लिए बालूसे ढँक दे और फिर भी तुम कहते हो कि मृत्यु इतिहासका सत्य है ही नहीं। तुम उसे काला धब्बा कह लो पर है वह सत्य—

कमलेशजी—

"अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यम-मन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम् ॥"

[प्रति-दिन जीवगण यमलोकको जा रहे हैं, फिर भी जो बच रहते हैं, वे जीवित रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है।]

रत्नाकरजी—सचमुच ही 'किमाश्चर्यमतः परम् !'

कमलेशजी—केवल हृदयकी गति विरुद्ध हो जाना या लकवा मार जाना ही इतिहासका सत्य नहीं है। कमसे कम साहित्यके इतिहासमें तो गला घोंट देना एक विशेष प्रकारकी कला है। यह आधुनिक युगकी देन है। हमारे देखते-देखते कितने नवजात साहित्यिक वादोंका गला घोंट दिया गया है। साहित्यकी वह रसवती प्राण-धारा जिसने बिहारीको बिहारी और पद्माकरको पद्माकर बनाया था, इस बुरी तरह मार डाली गयी है कि आश्चर्य होता है !

बलराज—गुस्ताखी माफ हो शर्माजी, उसने आत्मघात कर लिया है। हाँ, छायावादका गला घोंट देनेके लिए बुजुर्गोंने अलबत्ता कम कोशिश नहीं की है, पर कम्बख्त फिर भी बचा हुआ है।

मोहनलाल—नहीं बलराजजी, ताजा खबर यह है कि उसने भी अपने अनुचर रहस्यवादके साथ आत्मघात कर लिया है। पोस्टमार्टमके विषयमें अभी डाक्टरोंमें मतभेद है, पर मरनेके पहले अपने कुटम्बियोंके नाम उसने एक चिट्ठी टेबिलपर रख छोड़ी थी। उस चिट्ठीके अनुसार आत्मघातका कारण यह बताया जाता है कि किसी नवजात साहित्यिक वाद शिशुके साथ—जो कपड़े पहननेके पहले ही नंगा ही दौड़ने लगा है—दौड़नेमें पूरा न पानेके कारण दोनों मित्रोंने लज्जावश ऐसा कर लिया है !

कमलेशजी—शिव ! शिव !!

पण्डितजी—(रत्नाकरजीसे) आपने जो कुछ कहा है उसे मैं समझता हूँ, पर मैंने कब कहा है कि मृत्यु इतिहासका सत्य नहीं है ? मैं कहता हूँ कि मृत्यु जीवनका उत्स है। वह प्रधान नहीं है। प्रधान है अशेष जीवन-धारा। सचमुच ही एक बार महाभारतवाले उस श्लोककी गहराईमें जाया जाय तो मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, कौन नहीं जानता कि मृत्यु उसके सिरपर मँडरा रही है फिर भी सब जीना चाहते हैं। महाभारतकार इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, मैं इसे 'रहस्य' कहना पसंद करूँगा।

पुश्त दरपुश्तसे मृत्युकी ध्रुवताको जानकर भी मनुष्य क्या अभीतक यह नहीं सीख पाया कि जीवन व्यर्थ है ! मनुष्यको इस बातकी याद दिलानेवाले शक्तिशाली महात्मा अनेक हो गये हैं, शास्त्र भी बहुतेरे लिखे गये हैं, आन्दोलन भी कम नहीं चलाये गये हैं, फिर भी मनुष्य समझ नहीं पाया ! मेरी दृष्टिमें यह समझ न सकना अपने आपमें एक जबर्दस्त प्रमाण है कि इन उपदेशकों, शास्त्रों और आन्दोलनोंकी प्रथा गलत है कि मृत्यु ही सत्य है । मुझे यह विश्वास करनेमें शर्म मालूम होती है कि हम लोगोंकी यह दुनिया अनन्त कोटि मूर्खोंकी वास-भूमि है। मृत्यु अगर जीवनका सत्य होता तो आजसे हजारों वर्ष पहलेसे मनुष्यने जीवनेच्छाको नमस्कार कर दिया होता । आप लोग 'व्यक्तिको' अपने मनमें इतना ऊँचा स्थान दिये हुए हैं कि 'समूहकी' बात ही भूल जाते हैं । व्यक्तिका उद्भव-विलय बराबर होता रहता है पर कभी आपने यह भी सुना है कि समूचा समाजका समाज मर गया हो ?कभी भी क्या ऐसा समय बीता है कि जब पृथ्वीपर मानव-समूह निश्चिह्न हो गया हो । वस्तुतः समाज बराबर था और बराबर है । समाजके रूपमें जीवित रहनेको ही मनुष्य अपने बृहत् मानस-पटपर अङ्कित किये हुए है । एक व्यक्ति व्यक्ति-रूपसे नष्ट हो सकता है, पर पुत्र-पौत्र परम्परासे वह निरन्तर जीता रहेगा । इसी जीवनेच्छाने सन्तान-स्नेहको मानव हृदयमें प्रतिष्ठित किया है । ज्ञानी जब उसे माया कहता है तो बड़ी भारी गलती करता है । वह इसे ठीक नहीं समझ पाता । वस्तुतः व्यक्तिका आपसी सम्बन्ध उसके समाज रूपमें जीवित रहनेका ही द्योतक है ।

कमलेशजी—पण्डितजीको व्यक्तिवादियोंसे बड़ी चिढ़ है । समय असमय, मौके बेमौके वे हमें बराबर याद दिला देते हैं कि हम व्यक्तिवादी हैं इसलिए निरे ठूँठ हैं और चूंकि वे समूहवादी हैं इसलिए वस्तुकी वास्तविक मर्यादाके सच्चे जानकार हैं। गुस्ताखी माफ हो तो व्यक्तिवादी एक शाश्वत-सनातन अमर आत्मामें विश्वास करते हैं और मृत्युको उससे अधिक महत्व नहीं देते, जितना एक व्यक्ति पुराना कपड़ा छोड़नेको देता

है। व्यक्तिवादी होनेसे कोई मृत्युको प्रधान कैसे मान लेता है, यह बात समझमें नहीं आती। और जिस अर्थमें व्यक्तिकी मृत्यु होती है उस अर्थमें समाजकी भी मृत्यु होती है। पण्डितजी पूछते हैं कि क्या कभी आपने यह भी सुना है कि एक समाज पूराका पूरा निश्चिह्न हो गया हो ? हाँ, मैंने तो सुना है। ग्रीक समाज आज मिट गया है। सीरिया और बैबिलोनियाकी सभ्यताके उन्नायक आज निश्चिह्न हैं और स्वयं भारतवर्षका इतिहास साक्षी है कि विशेष-विशेष सभ्यता और संस्कृतिके पोषक-समूह यहाँसे उठ गये हैं। जब आप कहते हैं कि व्यक्तिके मर जानेपर भी समाज जीता रहता है तो मुझे उस जुलाहेकी कहानी याद आती है जिसने अपने हुक्केका नारियल सात बार बदला था और लकड़ी भी सात बार और फिर भी उसका दावा था कि हुक्का वही है।

बलराज—शर्माजी, आपकी बात मैं समझ नहीं सकता हूँ। मुझे शास्त्र वाक्योंकी व्याख्या मत समझाइये। मैं सीधी बातको सीधी भाषामें समझना चाहता हूँ। क्या समस्त आत्म-वादियोंका यह मत नहीं है कि भव-जाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, संसार दुःखका आगार है, विघ्न-वाहिनी पद-पदपर बाधा देनेको कटिबद्ध है, गृहस्थ लाचार हैं ? यह क्या घोर निराशावाद नहीं है ? क्या मनुष्य-जीवन इस प्रकारके विचारवालोंकी दृष्टिमें दुःख-शोकका प्रचण्ड जाल नहीं है ?

रत्नाकरजी—शाबाश बेटा, तुमने बात बहुत पक्की और पतेकी कही है। हाँ, सचमुच ही भव-जाल ऐसा ही है। पर उसे निराशावाद नहीं कहते। तुम शायद आशावादी हो। मैं तुमको आशावादका ऐतिहासिक विकास बता दूँ। याद रखो कि आशावाद जैसी बात बहुत हालका आविष्कार है। बहुत हालका। आजसे दो-सौ वर्ष पूर्व यूरोपके विचारशील पुरुषोंके सामने दुनिया बदलती हुई प्रकट हुई थी। पश्चिमी धार्मिक जनताके लिए गैलिलियो, कोपरनिकस और न्यूटनकी बातें जितनी ही आश्चर्य-जनक थीं, उतनी ही झकझोर देनेवाली। ये विचार कि यह पृथ्वी

समस्त विश्व-ब्रह्माण्डके केन्द्रमें नहीं है, और मनुष्य भगवान्की सबसे श्रेष्ठ सृष्टि नहीं है, बाईबिलकी महिमापर प्रचण्ड आघात करते थे। इन विचारकोंके विचारोंको रोकनेकी बहुत चेष्टा की गयी पर सफलता नहीं मिली। भाफके एञ्जिन और छापेकी मशीन नया सन्देश लेकर आयी। विचारशील लोगोंने स्पष्ट देखा कि दुनिया बदल रही है। मशीनें मनुष्यको गुलामीसे मुक्त कर देंगी, सबको सुख-समृद्धि समान भावसे मिलेगी। इस आशावादने अट्ठारहवीं शताब्दीके यूरोपियन लेखकोंको रामराज्यकी कल्पनाके लिए उत्तेजित किया। अट्ठारहवीं शताब्दीका अन्तिम हिस्सा आशावादके जयगानका युग है। कवि और नाटककार मनुष्यकी महिमाका गान गानेमें अघाते नहीं दिखते। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक कोण्डरसेट इस आशावादी साहित्यका ऐसा विधाता है जिसकी कहानी एक ही साथ करुणा-पूर्ण और स्फूर्ति-दायक है। इस अभागे आशावादीने फ्रांसके कई सम्भ्रान्तवंशीय अन्य रईसोंकी भाँति राजाके वधके विरुद्ध मत दिया था। इस अपराधपर प्रजातन्त्री विद्रोहियोंने इसे एक छोटेसे गन्दे कमरेमें बन्द कर दिया। इसी काल-कोठरीमें उसने मानव-प्रगतिके भविष्यके सम्बन्धमें एक पुस्तक लिखी। पुस्तक समाप्त होते ही वह अपनी काल-कोठरीसे निकल भागा और दूरके एक गाँवकी सरायमें शरण ली। उसके हाथमें सदा जहरकी पुड़िया रहती थी। वह जानता था कि एक बार विद्रोहियोंकी सनकका शिकार होते ही उसे कुत्तेकी मौत मरना होगा। अपनी आँखोंके सामने उसने अपने सगे-सम्बन्धियोंके चिथड़े उड़ते देखे थे। ऐसी मानसिक अवस्थामें उसने मनुष्यपर जो ग्रन्थ लिखा उसे देखनेपर आश्चर्यमें पड़ जाना पड़ता है। मनुष्यकी सद्बुद्धिपर, उसके विवेकपर, उसकी न्यायशीलतापर, उसकी महिमापर उसका अटूट विश्वास था। एक दिन सरायमें अपनेको विद्रोहियोंसे घिरा देखकर इस अपराजेय आशा-वादीने जहर खाकर प्राण दे दिये। मैं ठीक कह रहा हूँ, बलराज?

बलराज—जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं। पर कोण्डरसेटको शायद

आप इसलिए स्मरण कर रहे हैं कि इस मतको भङ्ग हो। पर सचमुच ही मशीनोंने अचरज ढाना शुरू किया। उन्नीसवीं शताब्दीके यूरोपियन देशोंने इन मशीनोंके बलपर संसारको रौंदना शुरू किया। दुनियाकी समृद्धि यूरोपमें आने लगी। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इन साम्राज्योंका उद्देश्य प्राचीनतर साम्राज्योंकी भाँति विषय-लालसाकी पूर्ति नहीं था। उनका उद्देश्य व्यवसायकी सुविधा प्राप्त करना था। यूरोपमें व्यवसायने एकाएक नया रूप धारण किया। बड़े-बड़े शहर बसने लगे, फैक्टरियाँ खड़ी हुईं, सामन्त और जमींदारी प्रथापर उसने जबर्दस्त आघात किया। व्यावसायिक क्रान्ति हुई। व्यवसायके लिए नयी-नयी वस्तुओंका आविष्कार होने लगा। पूँजीपतियोंने विज्ञानके अध्ययनको प्रोत्साहन दिया। नयी यूनिवर्सिटियाँ और कालेज खुलते गये। मशीनें बढ़ती गयीं। उनकी पूर्तिके लिए पदार्थ-विज्ञान और अन्यान्य जड़ विज्ञान उन्नति करते गये। मशीनोंके इस बढ़ते हुए प्रभावने मानव-मस्तिष्कको अभिभूत कर लिया। मनुष्यने विजय-गौरवसे आत्म-निरीक्षण करके कहा—मैं ही सब कुछ हूँ। मनुष्य प्रकृतिपर विजय पा सकता है, मनुष्य दुनियासे अन्ध-विश्वास और घृणाके भाव दूर कर सकता है। मनुष्य आकाश और पाताल-में अपनी जयध्वजा उड़ा सकता है। आशा और उल्लाससे, प्रसादजीकी भाँति, उस युगके मनुष्यने भी कहा—

विधाताकी कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतलपर पूर्ण
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुञ्ज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
आजसे मानवताकी कीर्ति
अनिल, भू, जलमें रहे न बन्द।

जलधिके फूटें कितने उत्स
द्वीप - कच्छप डूब - उतरायँ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़-मूर्ति
अभ्युदयका कर रही उपाय।
शक्तिके विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

रत्नाकरजी—हाँ बलराज, तुम मेरी ही बात कह रहे हो। तुम्हारे इस वक्तव्यका मैं समर्थन ही करता हूँ। सुनते जाओ। यन्त्रोंकी सफलताने मनुष्यके मनमें नास्तिकताका भाव ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी सन्देह-वादका युग है। मनुष्यने ईश्वरपर सन्देह किया है, धर्मपर सन्देह किया, शास्त्रपर सन्देह किया और फिर भी वह आशावादका युग है, क्योंकि उसने अपने ऊपर सन्देह नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्य-भागमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक आगष्ट कोम्त (Augast Comte)ने एक नये सिद्धान्तका प्रचार शुरू किया। पश्चिममें इसे 'पाजिटिविज्म' Positivism कहते हैं। इस पण्डितके मतसे मानवीय ज्ञान अबतक तीन सीढ़ियोंतक चढ़ चुका है। (१) धार्मिकता, (२) दार्शनिकता और (३) वैज्ञानिकता। पहिली अवस्थामें आदमी नाना देवी-देवताओंमें और अन्तमें ईश्वरमें विश्वास करता था। दूसरीमें उन देवी-देवताओं और तटस्थ ईश्वरको छोडकर उसने एक सर्वव्यापी चेतन सत्ताकी कल्पना की। ये दोनों अवस्थाएँ अब पार हो चुकी हैं। अब मनुष्य अपने सुख-दुःखके लिए देवी-देवताओं या ब्रह्म-सत्ताका मुखापेक्षी नहीं है। अब उसने दुनियाके रहस्यको बहुत कुछ समझ लिया है और भविष्यमें अधिकाधिक समझने योग्य होता जायगा। इसीलिए अब देवी-देवताओंकी या भगवान्‌की या सर्व-व्यापक चेतन-सत्ताकी उसे जरूरत नहीं है। परन्तु चूंकि मनुष्यमेंका

धार्मिक भाव बहुत प्रबल है, वह किसी-न-किसी वस्तुपर विश्वास किये बिना रह नहीं सकता इसलिए इस पण्डितने ईश्वरके स्थानपर मानवताकी प्रतिष्ठाकी सिफारिश की। मानवताकी सेवा करना ही वस्तुतः पूजा और उपासना है। मनुष्यके सिवा और कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धान्तका यूरोपमें उन दिनों खूब स्वागत हुआ। वस्तुतः तबसे अबतक किसी-न-किसी रूपमें मानवता साहित्य और दर्शनमें ईश्वरका स्थान पाती ही आ रही है। मनुष्यकी महिमामें विश्वास करना ही इस सिद्धान्तका मूल मन्त्र है। क्यों बलराज!

बलराज—जी हाँ, सही बात है।

मोहनलाल—परन्तु यह नियतिका मजाक ही कहा जाना चाहिये कि उक्त दार्शनिक जब मनुष्यकी प्रगतिकी वकालत कर रहा था और उसकी घोषणा कर रहा था उसी समय भारतवर्षमें सन् सत्तावनकी सद्-वृत्तियों पर, और उसकी न्याय-बुद्धि पर ऐसे विश्वासकी भयङ्कर प्रति-हिंसाग्नि धधक रही थी, राज-मार्ग रक्तसे पिच्छिल हो रहे थे और शस्य-श्यामल मैदान धुएँ और राखसे ढँक गये थे। मानों अदृश्य चेतन सत्ताको इस मजाकमें कुछ मजा आ रहा था। उसने इसी साल कोम्तको दुनियाकी सतहपरसे पोंछ दिया। और दूसरे ही साल सुप्रसिद्ध डार्विनने अपने नये आविष्कारोंसे दुनियाको चकित और क्षुब्ध कर दिया। इस बार देखा गया कि मनुष्य ईश्वर नहीं, पशु है। वह पशुओंमेंसे ही उपजा है। निरन्तर संघर्षमें विजयी होनेके कारण ही वह बचा हुआ है। इस दुनियामें वही बचता है जो बचनेमें सबसे योग्य होता है, जो अपने इर्द-गिर्दके शत्रुओंको छल-बलसे और बाहुबलसे जीत सकता है। इस आविष्कारने दुनियाके चिन्ता-शील लोगोंको एक बार फिर झकझोर डाला। इसने दुनियाको नयी दृष्टि दी। कुछ भी ज्योंका त्यों—जैसा आज दीख रहा है—नहीं आया। सभी वस्तु, सभी विचार, सभी समस्याएँ काल-प्रवाहमें बहती हुई, परिस्थितियोंसे टकराती हुई, निरन्तर परिवर्तित होती हुई आ

रही है। डार्विनका आविष्कार प्राणि-शास्त्रके क्षेत्रमें था, परन्तु उसने मनुष्यकी सारी मनीषाको नये रास्तेपर मोड़ दिया। प्रो० हिरेनूशाने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दीकी चिन्ताकी सबसे बड़ी कुञ्जी डार्विनका विकासवाद है। छोटेसे-छोटे धूलिकणसे लेकर विशाल सौर-जगत् और और भी विराट् तारागुच्छ इसकी लपेटसे नहीं बच सके। यहाँतक कि इस विचारने ईश्वरको और आत्माको भी प्रयोगशालामें बैठा दिया। जिस विचारने इस प्रकार मनुष्यकी चिन्तामें क्रान्ति ला दी उसने साहित्यको कितना प्रभावित किया था यह अनुमानका ही विषय है।

बलराज—जी, उस युगमें विकासवादका बड़ा विरोध हुआ था, पर आज कोई शास्त्र ऐसा नहीं है जो विकासवादको किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार न करता हो। इतिहासको समझनेमें इस शास्त्रने बहुत सहायता दी और इतिहासके समझनेका अर्थ होता है जीवन-प्रवाहको समझना। इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन-प्रवाहके विषयमें एक अविसंवादी तथ्यका पता पाकर बहुत कुछ आश्वस्त तो हुआ पर उसके आशावादने नया रूप ग्रहण किया। मैं उसी नये रूपका कायल हूँ।

पण्डितजी—लेकिन बलराज, इतना ही सब कुछ नहीं है। एक पार्श्वसे देखना ही सही देखना नहीं है। ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीका प्रथमार्द्ध जहाँ मनुष्यको नयी आशा और नयी उमङ्गोंसे भर रहा था वहाँ वह संवेदनाशील लोगोंको निराशावादकी ओर भी ले जा रहा था। बड़े-बड़े शहरोंके बसनेसे और बड़ी-बड़ी फैक्टरियोंके स्थापित होनेसे जहाँ यूरोपकी बाह्य सम्पत्ति बढ़ती जा रही थी वहाँ उसका आन्तरिक जीवन दुःखपूर्ण होता जा रहा था। व्यावसायिक क्रान्तिने राज-कीय और आर्थिक शक्तिको सामन्तवर्गके हाथसे खींचकर व्यवसायी समु-दायके हाथमें कर दिया था; राजनीतिमें ही नहीं, साधारण आचार-विचार और विश्वासमें भी प्रजातन्त्रवादका जोर था। सामन्तशाहीके विरुद्ध जो तीव्र आन्दोलन हुआ उसने साधारण व्यक्तिको अपनी स्वाधीनतामें आस्था-

वान् बनाया, शहरके भीड़-भम्भड़ने सदाचारके नियमोंको शिथिल कर दिया, शिक्षा-प्रचार और वैज्ञानिक शोधोंने एक ही साथ वंश-गत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासनके विरुद्ध बगावतका भाव ला दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनताका जन्म हुआ। आडम स्मिथने सुझाया कि किसी राष्ट्रकी सम्पत्ति उसके व्यक्तियोंकी योग्यता और स्वाधीनतापर ही निर्भर होती है। यह ध्यान देनेकी बात है कि उन दिनों जब वैयक्तिक स्वाधीनता और समानताकी बात कही जाती थी तब आजकी भाँति सब छोटे-बड़ेकी बात नहीं समझी जाती थी बल्कि कुलीन और सामन्तवर्गके शासनसे मुक्त होनेकी और मध्यवित्तके लोगोंका उनके समान समझे जानेकी बात समझी जाती थी। व्यवसायकी प्रधानताने कुलीन पुरुषका यह दावा कि वह भगवान्‌की ओरसे कुछ विशेष गुण लेकर उत्पन्न हुआ है, निर्मूल सिद्ध कर दिया। व्यवसायमें, जनताके व्याख्यानमञ्चपर और अखबारोंमे चमकनेके लिए कुलीनताकी कोई जरूरत नहीं थी। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्य वत्तके लोगोंमें एक प्रकारसे व्यक्तिगत अहङ्कारका भाव आता गया। यहाँतक कि यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि यदि वैज्ञानिक स्वाधीनता व्यवसाय-वाणिज्यमें अच्छी है तो वह सदाचार और राजनीतिके क्षेत्रमें क्यों नहीं अच्छी होगी! गाडविनने निःसन्दिग्ध होकर इस प्रकार प्रचार करना शुरू किया कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिये जायँ तो मनुष्यकी बुद्धिमें और चरित्रमें निरसन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। सुप्रसिद्ध कवि शेलीने इन्हीं विचारोंको छन्दो-बद्ध किया और केवल दार्शनिक गाडविनकी भाँति विचारोंकी ही दुनियामें नहीं भटकता रहा बल्कि उसने इसे जीवनमें कार्यान्वित भी किया। जब वृद्ध गाडविन अपनी जवानीके इन विचारोंको तिलाञ्जलि दे चुका था, तब भी उसके इस विचार-परिवर्तनकी परवा किये बिना उक्त कवि उसकी कन्याकी सहायतासे इस नवीन वैयक्तिक स्वाधीनताका प्रचार करता रहा। कवि जब संसारकी मङ्गल-विधायिनी सत्ताको

स्वीकार न करता हो, और फिर किसी सामाजिक नियन्त्रणकी भी परवा न करता हो तो जीवनके प्रत्यक्ष अनुभव उसे निश्चय ही निराशावादी बना देंगे। क्योंकि साधारण दुनिया उतनी अग्रसर नहीं हुई होती जितना अग्रसर होनेकी आशा कवि उसके निकटसे किये रहता है। शेलीने भी इसीलिए जीवनको एक भार ही समझा। वह अपने विचारोंके साथ संसारको चलता हुआ न देखकर घोर निराशावादी हो गया। वह बहुत थोड़ी उमरमें मर गया, पर उसके एक प्रशंसकने ठीक ही लिखा है कि वह बहुत दिनतक जिया क्योंकि उसका प्रत्येक क्षण औरोंके वर्षसे भी अधिक था। उस युगके अन्य कवियों—बायरन, कीट्स और वर्डस्वर्थमें भी निराशावादका सुर है। उन दिनोंका यूरोपियन काव्य-साहित्य इस सुरसे भरा पड़ा है। वर्तमानकी विसदृशताओंसे ऊबकर कविगण एक काल्पनिक अनुकूल जगत्के निर्माणमें लगे रहे।

'इन दिनोंकी यूरोपियन चिन्ताधारामें नियतिवादका जोर था। निराशावादी सभी कवि जड़ प्रकृतिकी एक नियत स्वाभाविक परिणतिमें विश्वास करते थे। यह प्रकृति किसीकी परवा किये बिना अपने रास्ते चली जा रही है। जो कोई भी इस प्रवाहमें पड़ता है वह बह जाता है, उसको रोकनेकी ताकत मनुष्यमें नहीं है। अपने सुख और दुःखका विधाता स्वयं मनुष्य नहीं है बल्कि उसके सुख और दुःख सभी एक नियतिप्रवाहके ऊपर निर्भर करते हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दीके मध्य-भागमें नाना प्रकारकी स्वाधीन चिन्ताएँ यूरोपियन विचार धाराको एक खास दिशामें मोड़ रही थीं। उसीकी परिणतिका नाम 'माडर्निज्म' (Modernism) है। उसमें ईश्वरका स्थान मनुष्यता ले चुकी थी, पर मनुष्यताको ईश्वरकी भाँति सर्वगुण सम्पन्न नहीं माना गया था, उसके दोष–गुण आदि सभी स्वीकार कर लिये गये थे। धर्म नामसे प्रचलित पुराने विश्वासप्रवण मतवादके स्थानपर तर्क-प्रवण नवीन मतवाद जन्म ले चुका था। विचारशील लोग स्वीकार कर चुके थे कि मनुष्य नियतिके हाथका एक खिलौना

है, या फिर यह कि मनुष्य प्रकृतिको अपने कब्जेमें ले आ सकता है।

बलराज—लेकिन सब मिलाकर उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें निराशावाद निश्चित रूपसे उतारपर आ गया था। आशावादने वह नया रूप धारण किया जिसे मैं चरम सत्य मानता हूँ। विकासवादकी प्रतिष्ठाने यह साबित कर दिया कि मनुष्य पशुकी अवस्थासे निरन्तर विकसित होता हुआ इस अवस्थातक पहुँचा है। उसका शारीरिक विकास प्रायः समाप्त हो आया है, पर मानसिक विकास बहुत कम हुआ है। वह निरन्तर पूर्णतर ज्ञानकी ओर बढ़ रहा है। मैं जेम्सके इस मतका बड़ा आदर करता हूँ कि वही सबसे बड़ा सत्य है जिससे मनुष्यका हित सधे।

कमलेशजी—मैंने धैर्यसे तुम्हारी बातें सुनी हैं, पर जिसे तुम उन्नीसवीं शताब्दी या अठारहवीं शताब्दीकी विचारधारा कहते हो वह इतनी नयी भी नहीं है और इतनी दूरकी भी नहीं है। घरकी ओर क्यों नहीं देखते? मैं तुम्हारी तरह यह तो नहीं मानता कि जो मनुष्यका हित है वही सत्य है पर महाभारतमें इसी तरहके विचारका पता लगता है, अवश्य ही वह इससे जरा बृहत्तर भूमिकापर प्रतिष्ठित है। नारदजीने शुकदेवसे कहा था कि—

'यद्भूतहितमत्यन्तम्, एतत् सत्यं मत मम'

बलराज—(आश्चर्यसे) अच्छा इतनी पुरानी बात है यह! मैं महाभारत पढ़ूँगा।

कमलेशजी—जरूर पढ़ो। मगर अभी तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि तुम्हें शास्त्र-वाक्योंकी व्याख्या नहीं पढ़ाऊँगा। यद्यपि तुमने अब तक डार्विन और जेम्स वगैरह को जिस रूपमें याद किया है वह शास्त्र-वाक्यकी दुहाईसे कुछ कम गर्हित नहीं है और सीधी बातसे सीधी भाषामें मुझे कहनेकी हिदायत तुमने की है उसके साथ इस सारे शास्त्रार्थका कोई सामंजस्य नहीं है। अब यदि तुम सुनना चाहो तो सीधी भाषामें मैं सीधे तौर पर तुम्हारे सारे शास्त्रार्थका निष्कर्ष बता दूँ।

पण्डितजी—जरूर बताइये।

कमलेशजी—मुझे ऐसा लगा है कि जिस आशावाद और निराशावादके विषयमें आप लोगोंमें पक्ष-स्थापनकी अहमहमिका पड़ गयी थी वे वस्तुतः ऐसे अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उद्भावित हैं जो सामयिक सुख-दुःखोंसे अभिभूत हो जाते हैं। उन्हें आप्त तो कहा ही नहीं जा सकता, धीर भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगोंके द्वारा स्थापित मत अस्थिर और असत्य हैं, वे कालकी कसौटीपर दस-पन्द्रह वर्ष भी नहीं टिक सकते। इसके विरुद्ध उन मतोंको देखो जो जीवन-व्यापिनी साधनासे उद्भावित हैं, जिनकी सत्यानुभूतिको बार-बार अनुभव किया गया है, पद-पदपर तपस्या की अग्निमें उसकी सचाईकी जाँच की गयी है। तुम इस प्रकारकी बहसमें उस मतको नहीं खींच सकते। वह मत 'टेबिलटॉक' का विषय नहीं है। वह साधनाका विषय है। हमारा साहित्य उसीको केन्द्र करके गठित हुआ है। उसमें आशावाद और निराशावादके उतार-चढ़ाव नहीं दिखते।

रत्नाकरजी—देखो पण्डितजी, कमलेशजीने जो बात कही है उसकी गहराईमें जाना चाहिये। भारतीय-साहित्य इस मशीनके बनने या उस थ्योरीके आविष्कृत होनेसे प्रभावित नहीं हुआ। वह एक शाश्वत सत्यमें प्रतिष्ठित है। तुम इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकते।

पण्डितजी—(कुछ अनमनेसे होकर) हाँ साहब, आपकी बात मानूँ तो कैसे और न मानूँ तो कैसे? एक दिन कैलाशकी देवदारु द्रुम-वेदिकापर निर्वात-निष्कम्प प्रदीपकी भाँति स्थिर भावसे आसीन महादेवके सामने अपने ही यौवन-भारसे दबी हुई वसन्त-पुष्पोंकी आभरणधारिणी पार्वती जब पुष्प-स्तवकके भारसे झुकी हुई सञ्चारिणी पल्लविनी लताकी भाँति उपस्थित हुई थीं और अपने नील अलकोंमें शोभमान कर्णिकार तथा कानोंमें विराजमान नव किसलय-दलको असावधानीसे विस्रस्त करती हुई उस तपस्वीके पद-प्रान्तमें झुकी थीं तो योगिराज क्षणभरके लिए चञ्चल हो उठे थे, उन्होंने बरबस अपने विलोचनोंको पार्वतीके मयङ्क-मुखकी ओर व्यापारित किया था। उन्होंने क्षणभरके लिए सारे संसारको मधुमय देखा था—अशोक कन्धे परसे

फूट पड़ा था, नकुल कंटकित हो गया था, न इसने सुन्दरियोंके आशिञ्जित नूपुर-ध्वनिकी प्रतिक्षा की, न किसीने उसके गण्डूष सेककी ! किन्तु एक ही क्षणमें योगासनासीन महादेव संभल गये। उन्हें किसी अपदेवताका कुसुम बाण-सन्धान उचित नहीं जान पड़ा। जबतक आकाशमें मरुद्गण क्रोध-शमन करनेके लिए हाहाकार करते जाते हैं तबतक कामदेव कपोत कर्कर-भस्ममें परिणत हो गया ! किशोरी पार्वतीका कोमल हृदय अपने सौन्दर्यकी व्यर्थतासे झुँझला उठा, उन्होंने इस व्यर्थताको दूर करनेके लिए कठोर तपस्याकी ठानी। प्रथम दर्शनके प्रेम पर, बाह्यरूपके आकर्षणपर क्षण-क्षणभरमें वज्रपात कराके समस्त हिमालयके सौन्दर्यको एक तरफ फेंक-कर कालिदास त्याग और तपस्याका आयोजन इस मस्तीसे करानेमें जुट गये मानों कुछ हुआ ही नहीं, मानों कुमारसम्भवके प्रथम तीन सर्ग माया थे, कविका उनपर कोई मोह नहीं, ममता नहीं, प्रीति नहीं। क्योंकि वे मनुष्यको और उसकी इस दुनियाको ही सब कुछ नहीं मानते थे। कुछ और भी है, इस दृश्यमान सौन्दर्यके उस पार, इस भासमान जगत्के अन्तरालमें कोई एक शाश्वत सत्ता है जो इसे मङ्गलकी ओर ले जानेके लिए कृत निश्चय है। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गये हैं, हमारी दुनिया बदल गयी है, हमारे विश्वास हिल गये हैं, हमारी ऐहि-कता बढ़ गयी है—"तेहि नो दिवसा गताः।"

मोहनलाल—नहीं पण्डितजी, कैसे कहा जाय कि वे दिन बीत गये। आज भी वह मायालोक आपको अभिभूत किये है, आज भी आप उसमें रस ले रहे हैं।

कमलेशजी—हम बदल सकते हैं, हमारी दुनिया बदल सकती है, हमारे विश्वास हिल सकते हैं, पर कालिदासका वह मायालोक सत्य है। हमारे बदलने—न बदलनेकी वह परवा नहीं करता।

बलराज—सब खतम ? पण्डितजीने तो कमाल किया कहाँ निराशा-वाद, आशावाद, पाजिटिविज़्म, मार्क्सवाद और अन्तमें सब फक् ! कालि-

दासका मायालोक? वाह, हमारे बदलने-न-बदलनेसे वह लोक एकदम बदला ही नहीं? मानो आज नित्य ही कालीदास पैदा हो रहे हैं। मायालोक बदल गया है, पण्डितजी, निश्चित बदल गया है और बदल गया है, एक क्षणमें आपका मूड।

मोहनलाल—हम किसी नतीजेपर नहीं पहुँचे। जहाँ के तहाँ रह गये।

बलराज—हाँ, हम रह गये, लेकिन युगसत्य वेगपूर्वक चला है। वह समस्त मोहों और आसक्तियोंको अपने रथ-चक्रसे रौंदता हुआ आगे बढ़ रहा है।

कमलेशजी—साधु, साधु!

आदिकालके अन्तरप्रान्तीय साहित्यका ऐतिहासिक महत्त्व

उन्नीसवीं शताब्दीमें विदेशी विद्वानोंने कठिन परिश्रमके बाद भारतीय इतिहासका सम्पूर्ण चित्र प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनका थोड़ा-बहुत ध्यान हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओंके साहित्यकी ओर भी गया। उनका प्रधान उद्देश्य था 'ऐतिहासिक' समझी जानेवाली सामग्रीका पता लगाना। इसी दृष्टिसे शुरू-शुरूमें हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओंके साहित्यका अध्ययन आरम्भ हुआ। उन दिनोंकी शोधप्रिय विद्वत्-सभाओंकी ओरसे ऐसे ही ग्रन्थोंके प्रकाशनका प्रयत्न किया गया जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होनेकी आशा थी। बादमें कुछ विदेशी पण्डितोंकी रुचि भाषा-विकासकी ओर भी हुई और इस दृष्टिसे भी हिन्दीके पुराने ग्रन्थोंके अध्ययनका प्रयत्न किया गया। इन दो उद्देश्योंके अतिरिक्त एक तीसरा उद्देश्य और भी था जिसे सामने रखकर कई विदेशी पण्डितोंने हिन्दीके कुछ धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन किया। इन दिनों ईसाई धर्मके प्रचारमें कई विदेशी धर्म-याजक बहुत प्रयत्नशील थे। उन्होंने हिन्दीमें लिखे धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन उन लोगोंके संस्कारों और विश्वासोंके अध्ययनके लिए ही शुरू किया था जिनके बीच उन्हें अपने धर्मका प्रचार करना पड़ता था। कहना बेकार है कि इस प्रकारकी दृष्टि वैज्ञानिक अध्ययनके लिए बहुत ही सदोष है, फिर भी यह सत्य है कि इस उद्देश्यको सामने रखकर जिन लोगोंने अध्ययन आरम्भ किया था उन्होंने भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जो भावी वैज्ञानिक अध्ययनके लिए सहायक सिद्ध हुए। इस युगमें जिस विदेशी जातिसे भारतवर्षका सम्पर्क हुआ वह यद्यपि भारतीय समृद्धिके शोषकके रूपमें ही परिचित है तथापि उस

जातिके चित्तमें विज्ञान-प्रेम अंकुरित हो चुका था और उसकी दृष्टिमें एक प्रकारका बौद्धिक वैराग्य और विवेक प्रतिष्ठित हो चुका था। सौभाग्यवश आरम्भमें भारतवर्षको इस जातिके अनेक उदार और कृती विद्वानोंका सहयोग प्राप्त हुआ और किसी-किसी क्षेत्रमें छोटे उद्देश्योंको सामने रखकर काम करनेपर भी इन पण्डितोंने बड़े परिश्रमसे हमारे साहित्यके अध्ययनका मार्ग प्रशस्त किया। विशुद्ध ज्ञान साधना ही जिनका उद्देश्य था उन्होंने हिन्दी ग्रन्थोंका अध्ययन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने और भाषा-विकासकी अवस्थाओंकी जानकारी प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही किया। बहुत दिनोंतक देशी विद्वानोंके मनमें भी हिन्दी-साहित्यके पुराने ग्रन्थोंका यदि कोई महत्त्व था तो इन्हीं दो कारणोंसे ही! साहित्यिक दृष्टिसे हिन्दी ग्रन्थोंके अध्ययनका कार्य तो बहुत बादमें शुरू हुआ।

किन्तु ऐसा लगता है कि जिन लोगोंने ऐतिहासिक सामग्री पानेकी लालसासे ही इस साहित्यका अध्ययन आरम्भ किया था उनका उत्साह बहुत देरतक नहीं टिक सका। पृथ्वीराजरासोकी तिथियाँ विवादका विषय सिद्ध हुईं, पद्मावतकी ऐतिहासिक मानी जानेवाली घटनाकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद समझी गयी। कई अन्य दरबारी और चारण कवियोंकी रचनाओंकी प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित हुई। उधर तत्तत् बादशाहोंके समसामयिक मुस्लिम ग्रन्थकारोंकी रचनाओंमें ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिक विश्वसनीय सामग्री प्राप्त होने लगी, ऐतिहासिक पण्डितोंका झुकाव उसी ओर होता गया। हिन्दी-ग्रन्थोंके अध्ययनका उत्साह ठण्डा पड़ गया। वस्तुतः हिन्दी भाषा जिन दिनों साहित्यका वाहन बनने लगी थी उन्हीं दिनो भारतीय इतिहासकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, और शायद अभूतपूर्व भी, घटना घट गयी। वह है इस्लामका प्रवेश। इस घटनाने इस देशके इतिहासको बहुत प्रभावित किया। हमारे देशके ऐतिहासिक पण्डितका सम्पूर्ण ध्यान यदि इस महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर खिंच जाता है तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है, खेदकी भी नहीं है। खेदकी बात है उस दृष्टिकी प्रतिष्ठा जो

शुष्क घटनाओं और तिथियोंको ही इतिहास समझती है। इसीका यह परिणाम हुआ है कि देशकी अन्य महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उपेक्षित रह गयी हैं। यदि इतिहासका अर्थ मनुष्य-जीवनके अखण्ड प्रवाहका अध्ययन हो तो हिन्दी साहित्यके आदिकालका इतिहास एकदम उपेक्षणीय नहीं है। पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।

इस प्रसङ्गमें हम साहित्य शब्दका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थोंमें कर रहे हैं। सचाई तो यह है कि जिन लोगोंने साहित्यिक दृष्टिसे इस कालके ग्रन्थोंका अध्ययन किया है उनके लिए यह विशेष आकर्षक सिद्ध नहीं हुआ है। वस्तुतः यह साहित्य पूर्ण रूपसे रसपरक साहित्य है भी नहीं। इसका जितना हिस्सा रसात्मक साहित्य कहा जा सकता है वह भी बहुत अधिक प्रेरणादायक और स्फूर्तिजनक नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस साहित्यका महत्त्व है। इसकी उपेक्षा करनेका अर्थ है समूची भारतीय परम्पराको विकलाङ्ग होने देना। इस साहित्यका सबसे बड़ा गुण यह है कि उससे हम उस 'मनुष्यको' पहचान सकते हैं जिसके पहचाननेका और कोई साधन उपलब्ध नहीं और दीर्घकालके उपेक्षित और अपरिचित मनुष्यको पहचाननेका साधन होना कोई मामूली बात नहीं है। जो साहित्य अपने युगके मनुष्यको, उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओंके साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओंके साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है वह निस्सन्देह महान साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है, बाकी सब बातें गौण हैं। अलङ्कार, छन्द, रसका अध्ययन इस मनुष्यको समझनेका ही साधन है, ये अपने आपमें कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्यको—अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओंसे ऊपर उठनेके लिए प्रयत्नशील उस प्राणीको जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धाको छीनाझपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणा-द्वेषसे बड़ा मानता है—उसके लक्ष्यकी ओर ले जाना ही साहित्यका मुख्य उद्देश्य है। हम जिस साहित्यकी चर्चा करने जा रहे हैं उसमें इस मनुष्यकी विजय-पराजयको, आगे बढ़नेके लिए किये गये संघर्षों

और पीछे हटने या भाग जानेके प्रयत्नोंको समझनेके अनेक इङ्गित हैं। यह साहित्य अपने युगको समस्त दोष-गुणोंके साथ प्रत्यक्ष कर देता है। नाथों और निरञ्जनियोंकी अनुश्रुतियाँ, जैन और बौद्ध साधकोंके दोहे और पद, निर्गुणियोंकी रचनाएँ और साम्प्रदायिक परम्पराएँ और अपभ्रंश कवियोंका इतस्ततोविक्षिप्त लौकिक अनुभवकी कविताएँ हमें एक 'अपूर्व जगत्'का दर्शन कराती हैं। इस दुनियाको प्रत्यक्ष करा सकनेकी शक्ति एक मात्र इसी साहित्यमें है। कभी-कभी इस साहित्यके इशारोंको समझनेके लिए पूर्ववर्ती, ईषत् पार्श्ववर्ती और परवर्ती भाषाओंके साहित्यसे सहायता मिलती है। यह भूल नहीं जाना चाहिये कि इस देशकी अनेक आर्येतर जातियाँ धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी हुई हैं,—कुछ तो अब भी अपनी भाषाएँ बचाये हुए हैं—आर्यभाषी होनेके बाद इन्हें अपने विश्वासों और अनुभवोंकी बातें देशी भाषाओंके माध्यमसे कहनेका अवसर मिला है। यही कारण है कि देशी भाषाओंके लिखित साहित्यमें और उनके लिए लोककथाओं, कहावतों और किंवदन्तियोंमे ऐसे सङ्केत मिल जाते हैं जो इन आर्येतर जातियोंके प्राचीन विश्वासों को और अपने आपको बचा रखनेके लिए किये गये सङ्घर्षोंको स्पष्ट करते हैं। इनमें सांस्कृतिक सङ्घर्ष और मिलनकी कहानियाँ प्रच्छन्न रूपसे बहती आ रही हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। देशी भाषाओंमें होनेके कारण ही सभी बातें नयी नहीं हो जातीं। हो सकता है कि इन देशी भाषाओंकी कथाओं और किंवदन्तियोंमें ऐसी प्राचीन बातोंकी ओर इशारा हो जिनका परिचय तत्कालीन संस्कृत साहित्यसे हमें एकदम न मिलता हो। भारतीय साहित्यमें एक विचित्र विरोधाभास है। रचनाकी नवीनता वक्तव्यकी नवीनताका प्रमाण नहीं है। अनेक पुराणोंकी रचना परवर्ती कालमें हुई है पर उनमें जो परम्परा आभासित है, वह बहुत पुरानी हो सकती है। यही बात देशी भाषाओंके लिखित और अलिखित साहित्यके बारेमें भी सच है। जिन आर्येतर भाषा-भाषी जातियोंको बहुत परवर्ती कालमें अपने विश्वासों और

अनुश्रुतियोंको आर्यभाषाके माध्यमसे कहनेका मौका मिला है वे स्वयं नयी नहीं हैं। उनकी अनुभूतियोंका आर्यभाषावाला रूप नया हो सकता है, पर अनुश्रुतियाँ बहुत पुरानी हो सकती हैं। निस्सन्देह उनपर परवर्ती कालके चिह्न भी इधर-उधर चिपके रह गये होंगे, पर फिर भी उनके प्राचीनतर रूपका सन्धान और किसी भी प्रकारसे पाना दुष्कर है। इस दृष्टिसे देशी भाषाओंका महत्त्व बहुत अधिक है। हमने अन्यत्र यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि यद्यपि हमारे पास अध्ययनकी बहुत कम सामग्री है तो भी देशी भाषाओंमें प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनके सूत्र खोजे जा सकते हैं।

यहाँ मैं इस ओर नहीं जाऊँगा। फिर भी इतनी-सी बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि हमारी भाषाका पुराना सहित्य प्रान्तीय सीमाओंमें बँधा नहीं है। आपको अगर हिन्दी साहित्यका अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों—बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, नेपाली आदिके पुराने साहित्य—लिखित और अलिखित—को जाने बिना घाटेमें रहेंगे। यही बात बँगला, उड़िया, मराठी आदिके पुराने साहित्योंके बारेमें भी ठीक है। हमारे देशका सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूतीके साथ अदृश्य काल-विधाताके हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रान्तीय सीमाओंमें बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता। उसका एक टाँका यदि काशीमें मिल गया तो दूसरा बङ्गालमें, तीसरा उड़ीसामें और चौथा महाराष्ट्रमें मिलेगा और यदि पाँचवाँ मालाबार या सीलोनमें मिल जाय तो आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। जैन पुरातन प्रबन्धमें नीलपट नामक 'दर्शनियों'की कहानी है। बताया गया है कि स्त्री-पुरुषके नग्न जोड़े एक नील वस्त्रमें आवृत रहते थे और भोगपरक धर्मका उपदेश देते थे। राजा भोजने इनका उच्छेद करा दिया था। बहुत दिनोंतक इन नीलपटोंके विषयमें कुछ जाना नहीं जा सका। जैन प्रबन्धके लेखकने इनका जो घृणित रूप खींचा है उससे इनके वास्तविक रूपका विचार नहीं किया जा सकता। यदि हिन्दू आचार्योंके विरोधी विचारोंके आधारपर ही बौद्ध मतका रूप देखनेका प्रयत्न किया

जाता तो वह चित्र कितना विकृत होता ! विरोधियोंके मतसे किसी मतका वास्तविक रूप नहीं समझा जा सकता। हिन्दीमें चर्पटीनाथका यह पद पाया जाता है:—

एक श्वेत जटा एक पीतपटा
एक तिलक जनेऊ लम्ब जटा
एक नीलपटा मत अट्टपटा
भ्रम जाल जटा भव हट्ट अटा

यह पद मैंने तरन-तारनसे प्रकाशित प्राण सङ्कली नामक ग्रन्थसे उद्धृत किया है जो सिक्खोंके एक सम्प्रदायमें गुरु नानककी वाणीके रूपमें समादृत है। इस पदमें नीलपटोंको संसारके बाजारमें भरमनेवाले भ्रमजालसे जकड़े हुए, अटपटे मतको माननेवाले कहकर स्मरण किया गया है। इस प्रकारके एक नील वस्त्रधारी सम्प्रदायका पता श्री राहुल सांकृत्यायनने सिंहलके निकाय संग्रहसे उद्धृत किया है और उस विवरणसे पता चलता है कि ये नीलपट वज्रयानियोंसे या तो अभिन्न हैं, या मिलते-जुलते हैं। सिंहलका विवरण न मिलता तो इसके बारेमें हम अन्धकारमें ही रहते। श्री क्षितिमोहन सेनने गोरखनाथ और मायाके संवादके रूपमें प्रचलित एक पद पूर्वी बङ्गालमें सुना था, उससे मिलता-जुलता पद राजपूतानेमें दादूके नामसे प्रचलित देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था, पर वह पद गोरखबानीमें गोरखनाथके नामपर प्राप्त है और बिहारमें जोगीड़ोंके रूपमें गाया जाता है। उदाहरण और भी बढ़ाये जा सकते हैं।

मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें कई ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुल पाशुपतों, वामाचारियों आदिका बड़ा जोर था। नाथों और निरञ्जनियोंकी अत्यधिक प्रबलता थी। बादके साहित्यमें इन मतोंका बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिणसे भक्तिकी जो प्रचण्ड आँधी आयी उसमें ये सब मत बह गये। पर वे क्या एकदम मिट गये ? लोकचित्तपरसे क्या वे एकदम झड़ गये?

हिन्दी, बङ्गला, उड़िया, मराठी आदि साहित्योंके आरम्भिक कालके अध्ययनसे इनके बारेमें बहुत कुछ जाना जा सकता है।

मुसलमानी आक्रमण तीरफलककी भाँति उत्तर भारतमें तेजीसे घुस गया था। इस अप्रत्याशित घटनासे दसवीं शताब्दीका धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण एकदम विक्षुब्ध हो गया। यद्यपि इन दिनों ब्राह्मण धर्मका प्राधान्य पूर्ण रूपसे स्थापित हो चुका था तथापि अनेक वेद और ब्राह्मणविरोधी साधनाएँ उन दिनों वर्तमान थीं। नाथों और निरञ्जनियोंका मत उन दिनों काफी प्रबल था। इस तीरफलकके चारों ओर ये साधनाएँ छितरा गयीं, कुछ समयके लिए ये एकदम विच्छिन्न हो गयीं और नाना स्थानोंमें अपने इर्द-गिर्दके वातावरणके अनुकूल होकर प्रकट हुईं। राजपूतानेमें उन्होंने वैष्णव रूप धारण कर लिया, पञ्जाबमें सिख धर्मका आश्रय लिया, बङ्गालमें धर्म पूजा या निरञ्जन-ठाकुरकी पूजाके रूपमें आत्म-प्रकाश किया, उड़ीसामें पञ्चसखाओंकी साधनामें अपनेको छिपा लिया और दक्षिणी बिहार तथा मध्यप्रदेश और छोटा नागपुरमें कबीरपन्थियोंके झण्डेके नीचे आत्म-रक्षा की। इस ऐतिहासिक विकासको संस्कृत पोथियोंके सहारे नहीं जाना जा सकता। इसके समझनेका एक मात्र उत्तम मार्ग है वर्तमान देशी भाषाओंके प्राचीनतर साहित्यका अध्ययन। इस बातको न जाननेके कारण कभी-कभी बड़े-बड़े पण्डितोंको चक्करमें पड़ना पड़ा है। धर्मपूजाको शुरू शुरूमें बौद्धधर्मका अवशेष समझा गया था। सबसे पहले महामहोपध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीने 'जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी'में एक लेख लिखकर इस बातकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया था। सन १९१७ ई० में उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'डिस्कवरी आफ लिविंग बुद्धिज्म' प्रकाशित हुई। तबसे इस विषयकी खूब चर्चा होती रही है। धीरे-धीरे यह विश्वास किया जाने लगा है कि धर्मपूजा-विधान वस्तुतः बौद्धधर्मका अवशेष नहीं कहा सकता, उससे प्रभावित भले ही हो। सन् १९११ ई० में श्री नगेन्द्रनाथ वसुने 'मयूरभञ्ज आरक्योलाजिकल सर्वे'की रिपोर्टमें यह

प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया कि उड़ीसाके पञ्च-सखाओंके साहित्यमें बौद्धधर्म प्रच्छन्न रूपसे जीवित है। बिहारमें बौद्धधर्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दीमें जीवित था और उसका विलयन कबीरपन्थमें हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखायी है। वस्तुतः केवल एक प्रान्तके साहित्यिक अध्ययनसे इस इतिहासके सिर्फ एक ही अध्यायका पता चलेगा। सम्पूर्ण चित्रके लिए अन्यान्य देशी भाषाओंके साहित्यकी भी जानकारी आवश्यक है। दसवीं शताब्दीके आसपासमें योगमत बहुत प्रबल हो गया था। उन दिनोंके जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव आदि विभिन्न सम्प्रदायके साधकोंकी भाषामें एक ही प्रकारके विचार घूम-फिरकर आ जाते हैं। बाह्याचारका विरोध करना, चित्तशुद्धिपर जोर देना, शरीरको ही समस्त साधनाओंका आधार समझना और समरस भाव प्राप्त करके स्वसंवेदन आनन्दके उपभोगको ही चरम लक्ष्य बताना उस युगके समस्त वेदवाह्य साधनाओंकी विशेषता है। कभी-कभी तो 'जैन', 'बौद्ध' आदि विशेषण पहिलेसे ही न मालूम हो तो रचना देखकर यह बताना कठिन हो जाता है कि रचयिता किस सम्प्रदायका है। उदाहरणार्थ, जब जैन साधक जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालयमें है, न शिलामें है, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थोंमें है, वह अक्षय-निरञ्जन ज्ञानघन शिव तो समचित्तमें (समरसीभूत चित्तमें) वर्त्तमान है—

देउ ण देवले ण वि सिलए
ण वि लिप्पउ ण वि चित्ति।
अखउ णिरञ्जणु णाणमउ,
सिउ संठिउ समचित्ति॥

तो उनकी यह भाषा वस्तुतः उस युगके अन्यान्य साधकोंकी भाषासे बहुत भिन्न नहीं है। यह शून्य, सहज, निरञ्जन आदि शब्द बादमें कबीर, नानक, दादू आदि सन्तोंकी भाषामें भी परम उपास्यके लिए प्रयुक्त होते रहे

हैं। दादूने 'ब्रह्म सुन्नि तहँ ब्रह्म है, निरञ्जन निराकार' कहकर अपने परम उपास्यको स्मरण किया है। कबीरने 'एक निरञ्जन सो मन लागा' और 'उलटे पवन चक्र षट्बेधा सुन्नि सुरति लै लागी' कहकर शून्यको बहुमान दिया है और नानकने 'सुन्नै सुन्न कहै सब कोय। सुन्नरूप बैठा प्रभु सोय' कहकर प्रभुको सुन्न-रूप कहा है। स्पष्ट है कि केवल शून्य शब्दका या निरञ्जन या निरालम्ब शब्दका व्यवहार देखकर ही किसी मतको प्रच्छन्न बौद्धमत नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'शून्य' शब्द कभी बौद्धसाधनामें बहुत सम्मानित था, परन्तु परवर्ती साधकोंकी पुस्तकोंसे इस बातमें भी संदेह नहीं रह जाता कि ये शब्द अर्थ बदलकर साधनाकी अन्य धाराओंमें भी अबाध गतिसे बहते आये हैं। यदि शून्य शब्दको देखकर किसी साधनाको प्रच्छन्न बौद्ध कह दिया जाय तो शून्यको ध्यान करते "देव सुण्णउँ पउ झायताहँ बलि बलि जोइअ जाँह" कहकर अत्यधिक उल्लसित होनेवाले जोइन्दुको भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है।

पर ऐसा कहना ठीक नहीं है। लेकिन कुछ बातें सचमुच ही इसी प्रकारकी कही गयी हैं। उड़ीसाके पञ्चसखा भक्तोंको प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

निरञ्जनके कुछ रूपोंकी बानगी देखिये—

१. सोलहवीं शतीमें उड़ीसामें छः बहुत बड़े वैष्णव कवि हुए हैं। इनमें पाँच अर्थात् (१) अच्युतानन्ददास, (२) बलरामदास, (३) जगन्नाथदास, (४) अनन्तदास और (५) यशोवन्तदास समसामयिक थे। इन्हें उड़ीसामें 'पञ्चसखा' कहा जाताहै। छठे चैतन्यदास इनके ईषत्-परवर्ती हैं। इनका आविर्भाव राजा प्रतापरुद्रके राज्य-कालमें हुआ था। कहते हैं, प्रतापरुद्रके विषयमें तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथने लिखा है कि इस राजाने उड़ीसामें बौद्धोंका दमन किया था। अब, श्री नगेन्द्रनाथ वसु महाशयने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि पञ्चसखा वस्तुतः बौद्धभक्त थे, राजभयके कारण ही उन्होंने वैष्णव रूप धारण किया था। इस बातकी

पुष्टिके लिए वसु महाशयने इन कवियोंकी ऐसी बहुतसी कविताएँ उद्धृत की हैं जिनमें इन्होंने श्री कृष्णको शून्यरूप और निरञ्जन कहकर स्मरण किया है। उदाहरणार्थ बलरामदासने विराट् गीतामें श्री कृष्णको बार-बार शून्य-रूप कहा है—

तोहर रूप रेख नाहीं। शून्य पुरुष शून्य देही।
वोइले शून्य तोर देही। आवर नाम धिब कहीं।

तोर शून्य रूप शून्य देह
किना दैत्यारि नाम-व्यूह।

अपनी 'गणेशविभूति टीका' नामक पुस्तकमें भी बलरामदासने शून्य-रूपमें स्थित ज्योतिःस्वरूप भगवान्का ध्यान इस प्रकार किया है :—

अनाकार रूप शून्य-शून्य मध्ये निरञ्जनः।
निराकार मध्ये ज्योतिः सज्ज्योतिर्भगवान् स्वयं॥

इसी प्रकार चैतन्यदासने उस पुरुषको अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रन्थमें "शून्य रे थाइ से शून्ये करइ विहार" कहकर शून्यमें स्थित शून्यरूप ही कहा है।

महादेवदास नामक उड़िया वैष्णव कविने धर्मगीतामें बताया है कि किस प्रकार महाशून्यने सृष्टि करनेकी इच्छासे निरञ्जन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूपमें अपने पुत्रोंको पैदा किया था, पर ये सभी जब सृष्टि-कार्यमें असमर्थ हो गये तो अन्तमें उस महाशून्य महाप्रभुने अपनेको धर्मरूपमें प्रकट किया। इसी धर्मकी सहायतासे महामायाने सृष्टि उत्पन्न की।

यहाँ विस्तारभयसे मैं कबीरपन्थी, निरञ्जन या धर्मरायकी कहानी नहीं कह रहा हूँ। परन्तु इतना स्मरण करा देनेकी आवश्यकता है कि कबीर-पन्थी पुस्तकोंमें निरञ्जनकी प्राप्तिके लिए 'शून्य'के ध्यानका विधान है। ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसाके उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुरके जङ्गली इलाकोंको घेरकर वीरभूमिसे रीवाँतकके भू-भागमें धर्मदेवता या

निरञ्जनकी पूजा प्रचलित थी। ऐसा कहना ठीक नहीं लगता कि यह बौद्धधर्मका प्रच्छन्न रूप था। यहाँ स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये कि बौद्धधर्मके किसी पारिभाषिक शब्दका परिवर्तित अर्थमें व्यवहार होनेको हम बौद्धधर्मका अवशेष नहीं कह सकते। केवल अधिकसे अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि इन शब्दोंका बौद्ध साधनासे सुदूर सम्बन्ध था। इस बातको प्रच्छन्न बौद्धधर्म तो बहुत सोच-विचराकर ही कहना चाहिये।
२. बिहारके मानभूम, बङ्गालके वीरभूम और बाँकुड़ा आदि जिलोंमें एक प्रकारके 'धर्म'—सम्प्रदायका पता हाल ही में लगा है। यह धर्ममत अब भी जी रहा है।

धर्म-पूजा विधानमें निरञ्जनका ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है—

ओं यस्यान्तं नादिमध्यं न च करचरणं नास्तिकायो निनादम्
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य ।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥

रमाई पण्डितके शून्यपुराणमें धर्मको शून्यरूप, निराकार और निरञ्जन कहकर ध्यान किया गया है—

शून्यरूपं निराकारं सहस्त्रविघ्नविनासनम् ।
सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव ॥
निरञ्जनाय नमः ॥

धर्माष्टक नामक एक निरञ्जनका स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरञ्जनके स्वरूपपर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

इधर यह भी दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणीकी जातियोंकी भाषाके एक शब्दका संस्कृतीकृत रूप है। यह कूर्म या कछुएका वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोकके शिलालेखोंमें भी मिलता

है और उत्तरकालीन संस्कृत भाषामें भी गृहीत हुआ है और जो कछुएका वाचक है, आस्ट्रोएशियाटिक श्रेणीका शब्द है। सन्थाल आदि जातियोंकी भाषामें यह नाना रूपोंमें प्रचलित है। इन भाषाओंमें 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोमका भी अर्थ कछुआ होता है। इसी शब्दका संस्कृतरूप धर्म है जो संस्कृतके इसी अर्थके साथ गड़बड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्मपूजामें कछुएका मुख्य स्थान सम्भवतः सन्थाल, मुण्डा आदि जातियोंके विश्वासका रूप है। कबीरपन्थमें अब भी 'कूर्म' जीका सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म'की इज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुण्डा लोगोंमें रमाई पण्डितका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। रमाई पण्डित शून्यपुराणके रचयिता माने जाते हैं।

निरञ्जन मतका तीसरा रूप कबीरपन्थी पुस्तकोंमें मिलता है। यहाँ यह बतानेका प्रयत्न है कि निरञ्जन ही ब्रह्मा विष्णु, शिव और उनकी शक्तिका जनक है, परन्तु है वह अत्यन्त धूर्त और मक्कार। उसीने सृष्टिका जाल फैलाया है और भोले-भाले जीव उसकी मायामें फँस जाते हैं। वेदमार्गी, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि उसी चक्करमें पड़े हैं। मैंने इस कथाका विस्तृत कबीरपन्थी रूप अन्यत्र दिया है। कबीरदासको बार-बार इस धराधामपर भक्तोंको इस धोखेबाज निरञ्जनके जालसे बचानेके लिए अवतीर्ण होना पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्वी प्रदेशोंमें जिन जातियोंमें कबीर-पन्थको प्रचार करना पड़ा था उनमें निरञ्जन मतका प्रचार था। कबीरपन्थी आचार्योंने उनकी सारी परम्परा को इस प्रकार मोड़ दिया है कि निरञ्जन अपने महत्त्वपूर्ण जगन्नियन्तृ पदपर बैठा हुआ भी शैतान बन गया है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि इन साम्प्रदायिक पुस्तकोंसे ही इस मूल निरञ्जन-मतका पता चलता है।

वस्तुतः निरञ्जनमतके ये तीनों ही रूप—उड़ीसावाला, बङ्गालवाला, और कबीर सम्प्रदायवाला—ओरावों और गोड़ोंमें प्रचलित सृष्टि-प्रक्रियासे

बहुत मिलते-जुलते हैं। ओरावोंमें तो रमाई पण्डित भी सम्मानित हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमणके बाद निरञ्जनमतका जो रूप छोटा नागपुरमें रह गया उसने वहाँकी आदिम जातियोंके सम्पर्कमें एक रूप ग्रहण किया, उड़ीसाके भक्तोंने दूसरा रूप ग्रहण किया और बङ्गालमें तीसरा रूप ग्रहण किया और कबीर सम्प्रदायमें चौथा रूप ग्रहण किया। पूर्वी रूपके इन चार ही रूपान्तरोंका मुझे पता है। और अनुसन्धान करने-पर और रूपोंका पता भी लग सकता है। इस सम्बन्धकी पौराणिक कथाएँ सम्भवतः आदिम जातियोंकी सृष्टि-प्रक्रिया विषयक कथाओंके साहचर्यसे बनी हैं, क्योंकि पश्चिममें निरञ्जनमतके जो रूप प्राप्त हैं उनमें इस प्रकार-की कथाएँ नहीं हैं। राजपूतानेमें निरञ्जनमत वैष्णवमतके रूपमें जीवित है। सिखमतमें निरञ्जनमतका रूप पाया जाता है। स्वयं गुरु नानकने अकल निरञ्जनको इस अद्भुत कला-विद्याका प्रवर्तक कहकर स्मरण किया है, जो शून्यसे रङ्ग बनाकर इस अद्भुत पृथ्वी और आकाशको बनाकर इसमें मगन हो रहा है।

> अगम निगमकी कथाको, मोहि सुनावै आय
> ज्यों कीआ प्रकाश सुन्नते नाना रङ्ग बनाय।
> अकल निरञ्जन भला करि कीना धरनि गगन
> नानक रङ्ग बनाई कै, रहिया होय मगन॥

किस प्रकार यह शून्य और निरञ्जनकी साधना उत्तर भारतके निर्गुण सन्तोंको आश्रय करके प्रकट हुई यह कहानी बड़ी मनोरञ्जक है। मेरा अनुमान है कि महाराष्ट्रमें भी इस मतने वैष्णव रूप धारण किया है। सन्त ज्ञानेश्वरका सम्बन्ध सीधे नाथ-गुरुओंसे स्थापित किया जाता है, परन्तु मैं इस विषयमें विशेष नहीं जानता। पण्डित-मण्डलीका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि यदि देशी भाषाओंके साहित्यका अध्ययन उपेक्षित रहेगा तो यह सम्भव नहीं है कि इस महान् धार्मिक उथल-पुथलका सामान्य आभास भी अन्य किसी साधनसे प्राप्त हो सके।

इस धार्मिक आन्दोलनने समूचे उत्तर भारतके लोकचित्तको शताब्दियों तक प्रभावित किया है और आज भी बहुत दूरतक कर रहा है।

यह एक उदाहरण है। पण्डित-मण्डलीको सोचनेकी उत्तेजना देनेवाली अनेक सामग्रियोंका पता इस क्षेत्रसे मिल सकता है। किस प्रकार बाप्पा रावलका रामाद्दन पाशुपतपन्त रावल अर्थात् लाकुल पाशुपतमत 'रावल' और 'गल' नामक दो सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर बादमें रावल-गल्ल हो गया और धीरे-धीरे मुसलमान होनेको बाध्य हुआ, किस प्रकार कृष्णाचार्यके कापालिक मतावलम्बी कहीं मुसलमान हो गये और कहीं हिन्दुओंकी अलग जातिके रूपमें जी रहे हैं, किस प्रकार त्रिमलादेवीके शक्ति सम्प्रदायको गोरखनाथी झण्डेके नीचे आत्मरक्षा करनी पड़ी और किस प्रकार राजा रसालू और पूरन भगतका सम्प्रदाय बारहपन्थी योगियोंमें अन्तर्मुक्त हुआ — ये और ऐसी ही अनेक बातें केवल धार्मिक साधनाके साहित्यमें महत्त्वपूर्ण सूचना ही नहीं देतीं, वे हमारी सम्पूर्ण जनताके भाग्यविपर्ययकी दुःखपूर्ण कहानीको समझनेमें मदद पहुँचाती हैं। यह साहित्य उस बीजकी कहानी आपको बतायेगा जो हजार वर्ष बाद इस महादेशको दो परस्पर विरोधी टुकड़ोंमें बाँटनेवाले विषवृक्षके रूपमें पनपा है। हमारी देश-भाषाओंका आदिकालका साहित्य एक दूसरेसे बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरेका पूरक है। समय आ गया है कि इसके सम्पूर्ण रूपको स्पष्ट भावसे समझनेका प्रयत्न किया जाय। कोई ऐसी व्यापक दृष्टिवाली विद्वत्सभा स्थापित होनी चाहिये जो इस कालकी सम्पूर्ण साहित्यिक सामग्री—लिखित और अलिखितका सङ्कलन और अध्ययन करे।

भारतवर्षका सुषुप्त मध्ययुग जिसके पेटसे यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस देशकी जनताको, उसके विश्वासोंको, धर्मपरिवर्तनके कारणोंको समझनेकी सामग्री, इस कालके साहित्यमें प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होगी। इसे समझे बिना हम भारतवर्षको ही ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।